वे दिन,

वे लोग

वे दिन, वे लोग

अंतरंग संस्मरणों का संग्रह

स्वर्गीय
आचार्य श्री शिवपूजन सहाय

सम्पादक
बालेन्दुशेखर मंगलमूर्ति



राजकमल प्रकाशन

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
तथा नवीन प्रेस दिल्ली द्वारा मुद्रित।

मूल्य : चार रुपये पचास पैसे

क्रम

मेरे गाँव में एक पण्डितजी थे। वे संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उनका शुभ नाम था रामप्रकाश पाण्डेय। वे डुमराँव के महाराज के राजगुरु परमहंसजी के प्रिय शिष्य थे। परमहंसजी का नाम था पं. दुर्गादत्तजी। वे सिद्ध योगी और शिवजी के अनन्य आराधक थे। उनकी जीवनी प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र ने हिन्दी में लिखी है। वह पुस्तक-भण्डार (पटना) से प्रकाशित हुई है। उसकी भूमिका मैंने लिखी थी। उसी भूमिका से मेरे जन्म की तारीख मिलती है।

मेरे गाँव में एक दूसरे पण्डितजी भी थे। वे भी संस्कृत के अच्छे विद्वान और कथावाचक थे। उनका शुभ नाम था राममल्ल पाण्डेय। पं. रामप्रकाशजी सरयूपारीण ब्राह्मण थे। पं. राममल्ल पाण्डेय थे शाकद्वीपीय। यही मेरे कुल-पुरोहित थे।

पं. रामप्रकाशजी के घर पर एक बार उनके गुरु परमहंसजी आये थे। मेरे माता-पिता ने बड़ी भक्ति से परमहंसजी के दर्शन किये थे। मेरे एक चाचा ने परमहंसजी से प्रार्थना की थी। मेरे पिताजी संकोचवश कुछ निवेदन न कर सके।

किन्तु चाचाजी की प्रार्थना सुनकर परमहंसजी ने कहा कि शिवजी की आराधना करने से सन्तानोत्पत्ति होगी।

पं॰ रामरतन पाण्डेय ने काशी में रहकर विश्वनाथजी की और देवघर में रहकर बैद्यनाथजी की, कई महीने तक, आराधना की। यह शिवाराधन परमहंसजी के आदेशानुसार हुआ। पूजा की पूर्णाहुति के बाद चाचाजी को परमहंसजी ने बुलाया और अपने अग्निहोत्र-कुण्ड से दिव्य विभूति दी। उसी के प्रताप से मेरी मृतवत्सा माता सन्तानवती हुई।

मेरे जन्म का समाचार परमहंसजी के पास वही चाचाजी ले गये। उन्होंने नामकरण करके जो भविष्यवाणी की, वह सफल हो गई। परमहंसजी के आशीर्वाद की चर्चा मेरी माता अक्सर किया करती थी। पिताजी और चाचाजी भी कभी-कभी परमहंसजी की तपस्या का स्मरण कर लेते थे।

तपस्या का प्रभाव अमर होता है। परमहंसजी के अग्निहोत्र-कुण्ड की चुटकी-भर भस्म से एक मृतवत्सा की कोख फलवती हो गई। उस दिव्य विभूति के एक-एक कण में जो अद्भुत शक्ति थी, वही मेरे जीवन-निर्माण में सहायक सिद्ध हुई। मेरे मन में ईश्वरभक्ति बीज उसी शक्ति ने बोया। उसी शक्ति ने मुझे [illegible]।

महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा

आरा नगर के निवासी पाण्डेय सकलनारायण शर्मा हिन्दी के उद्भट लेखक वक्ता और पत्र-सम्पादक थे पर उनका नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में नहीं मिलता केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' (चतुर्थ भाग) में उनका संक्षिप्त परिचय है। यह खेद और आश्चर्य का विषय तो अवश्य है पर साहित्यिक इतिहासों में बहुधा उन लोगों के ही नाम उभरकर हैं जिनके रचे हुए साहित्य से हिन्दी के भण्डार की शोभा और सम्पत्ति बढ़ी है। शर्माजी ने कोई बड़ा भारी-भरकम ग्रन्थ तो नहीं लिखा पर इस बीसवीं शती के आरम्भिक वर्षों में जो छोटी-मोटी पुस्तकें लिखीं वे उस युग की दृष्टि से बड़े महत्त्व की थीं और आज भी महत्त्वहीन नहीं हैं। उनका 'हिन्दी सिद्धान्त प्रकाश' तो आज भी अतुलनीय है। 'सृष्टितत्त्व' 'प्रेम तत्त्व', 'व्याकरण-तत्त्व' 'आरा-पुरातत्त्व' आदि पुस्तकों से भी उनकी तत्त्व-विवेचनशक्ति का परिचय मिलता है। अन्तिम पुस्तक से उन्होंने पुरातत्त्वान्वेषण की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया था—उस समय जब हिन्दी में पुरातत्त्व-शोध की ओर किसी का ध्यान न था। उन्हीं दिनों 'रामा-रमणी' और 'अपराजिता' नामक दो मौलिक उपन्यास भी लिखे जो चरित्र-चित्रण के विचार से बड़े सुन्दर हैं तथा भाषा तो उनकी अपनी शैली थी। छोटे-छोटे वाक्यों की सरल भाषा लिखने में उस समय भी उनका कोई सानी नहीं था और आज तो है ही नहीं। खड्ग विलास प्रेस (पटना) की साप्ताहिक 'शिक्षा' के वे अनेक वर्षों तक सम्पादक रहे और उसमें कभी-कभी गहन शास्त्रीय विषयों पर भी सम्पादकीय अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ लिखा करते थे। उसमें जटिल विषय को भी सुबोध बना देने की उनकी कला दर्शनीय होती थी। गूढ़ातिगूढ़ विषय

को सुगमता से समझा देने में भी वे अद्वितीय ही थे। फिर भी साहित्य के इतिहासों में उनका यथोचित उल्लेख कहीं नहीं मिलता।

यह एक विचारणीय विषय है कि जिन महानुभावों ने पत्र-पत्रिका सम्पादन-काम में तत्पर रहकर जन-समाज में हिन्दी का अनवरत प्रचार करके साहित्यानुराग उत्पन्न किया उनको इतिहासकार प्रायः भूल-सा गये हैं। उन सज्जनों को भी वे भूल गये हैं जिन्होंने लेखनी छोड़कर अपनी ओजस्विनी वाणी से ही जनता को हिन्दी की ओर आकृष्ट किया है। पत्र-पत्रिका-सम्पादकों में श्री हरिकृष्ण जौहर, पं० अमृतलाल चक्रवर्ती, मेहता लज्जाराम शर्मा, श्री भगवानदास हालना, पं० नन्दकुमार देव शर्मा, पं० माधवराव सप्रे, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, पं० बाबूराव विष्णु पराड़कर, अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी, पं० कृष्णकान्त मालवीय, पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, पं० रूपनारायण पाण्डेय आदि अनेक विद्वानों ने पत्रकार के रूप में हिन्दी की जो चिरस्मरणीय सेवा की है उसका किञ्चित् उल्लेख हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहासों में कहीं हुआ है सही, पर साहित्य के इतिहासों में तो अधिकांश का उल्लेख तक नहीं है। क्या उनकी प्रचारात्मक और रचनात्मक सेवा उल्लेख्य नहीं है? फिर इसी प्रकार हिन्दी के प्रभावशाली वक्ताओं में पं० मदनमोहन मालवीय, डॉ० भगवानदास, लाला लाजपतराय, पं० दीनदयालु शर्मा व्याख्यान वाचस्पति, श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि मनीषियों ने अपने भाषणों से हिन्दी का जो उपकार किया है वह उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त पत्रकारों और वक्ताओं के समान कितने ही पत्रकार और वक्ता और भी हो चुके हैं जिनकी महत्त्वशालिनी हिन्दी सेवा के सम्बन्ध में पृथक् स्वतन्त्र लेख ही लिखे जा सकते हैं। किन्तु लेखनी और वाणी के धनी इन हिन्दी-सेवकों का कहीं सादर स्मरण भी नहीं किया गया है। ऐसी दशा में पं० सकलनारायणजी उपेक्षित रह गये तो कोई नई दुर्घटना नहीं हुई। शर्माजी भी लेखनी और वाणी दोनों के धनी थे।

शर्माजी ने लगभग तीन वर्षों तक 'शिक्षा' का सम्पादन-कार्य करते हुए आधुनिक युग की प्रभात-बेला में हिन्दी की जो उल्लेखनीय सेवा अपनी

सिद्ध लेखनी से की गई भले ही कहीं इतिहास में अंकित न हो पर भविष्य के उन्नत युग में उसका मूल्यांकन होकर रहेगा। उनकी वाणी ने भी हिन्दी की धाक और साख जमाई। उस प्रचार-युग में उनके व्याख्यानों से हिन्दी का पक्ष पुष्ट हुआ और उसके प्रचार-विस्तार के लिए भी उर्वर क्षेत्र तैयार हुआ।

यदि उदार विचार-दृष्टि से देखा जाय तो कितने ही लोकप्रिय कथावाचक और 'मानस'-व्यास भी हिन्दी-प्रचार में बड़े सहायक हुए हैं। आज भी रामायणी व्यास तुलसी-साहित्य की जो सेवा कर रहे हैं और उनसे जनता में जो भक्ति-साहित्य का प्रेम जाग्रत हो रहा है वह ध्यान देने योग्य है।

स्वदेशी-आन्दोलन के युग में आर्यसमाज और सनातन-धर्म के शास्त्रार्थ-संघर्ष का जो श्रीगणेश हुआ था वह महात्मा गांधी के राजनीतिक आन्दोलन के आरम्भ होने से पहले तक देश-भर में हलचल मचाता रहा। उस धार्मिक और सामाजिक सुधार के आन्दोलन में शर्माजी ने समस्त बिहार प्रान्त में घूम-घूमकर सनातन-धर्म के मंच से सैकड़ों व्याख्यान दिये थे तथा शास्त्रार्थ करके भी सनातन-धर्म की मर्यादा बचाई थी। वे त्रि-तीर्थ थे (व्याकरण-साहित्य-सांख्यतीर्थ) पर वैदिक और पौराणिक साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन-मनन किया था। अपने धाराप्रवाह भाषणों में वे धर्मशास्त्रों के प्रमाण-वाक्यों के उदाहरण देने लगते थे तो उनकी स्मृति-शक्ति की प्रखरता चकित कर देती थी। वह ध्वनि-विस्तारक यंत्र (लाउड-स्पीकर) का युग नहीं था। तब भी वे हजारों श्रोताओं को अपने धाराप्रवाह व्याख्यान से मंत्रमुग्ध कर देते थे। जान पड़ता था कि उपनिषदें और स्मृतियाँ उनकी सरस्वती के आगे हाथ बाँधे खड़ी हैं। संस्कृत और बंगला तो वे मातृभाषा के समान बोलते थे। वक्तृता के समय उनकी हिन्दी संस्कृतनिष्ठ होती थी परन्तु लेखनकाल में वह सरलातिसरल बन जाती थी। व्याकरणसम्मत भाषा लिखने में विरला ही कोई उनकी बराबरी में आ सकता था।

खेद है कि 'शिक्षा' में छपे उनके अमोल सम्पादकीय वक्तव्य और लेख आज सर्वथा दुर्लभ हो गये। यदि उनका संग्रह प्रकाशित हुआ रहता तो

भाषा-शैलियों का अध्ययन-अनुशीलन करनेवाले साहित्यिक अनुसन्धायकों को शोधकार्य में अमूल्य सहायता प्राप्त होगी ।

सन् १९०१ में उन्होंने आरा नगर में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी । वह आज भी अपने स्वतन्त्र भवन में स्थित है । उसके द्वारा हिन्दी-प्रचार के जो कार्य हुए हैं वे ऐतिहासिक महत्त्व के हैं । देशी राज्यों और सरकारी दफ्तरों में उसके अथक उद्योग से हिन्दी का प्रवेश तो हुआ ही, कलकत्ता-विश्वविद्यालय में भी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी की सहायता से सभा ने हिन्दी को स्थान दिलाया । काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के साथ आचार्य श्यामसुन्दर दासजी का भी इस काम में पूरा सहयोग रहा । उनसे शर्माजी की घनिष्ठ मैत्री थी । उन्होंने अपनी 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' नामक पुस्तक में शर्माजी की सचित्र जीवनी प्रकाशित की थी । सभा के प्रधान-मंत्री और शर्माजी के अभिन्न मित्र श्री व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' तथा इनके पिता बाबू शिवनन्दन सहायजी की सचित्र जीवनियाँ भी उस पुस्तक में छपी थीं । शर्माजी के साथ मिलकर व्रजवल्लभजी ने सभा द्वारा जो हिन्दी-सेवा की वह सभा के जीवनेतिहास की बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री है ।

यह निस्संकोच कहना पड़ेगा कि 'व्रजवल्लभ' जी की रचनात्मक प्रतिभा को परख शर्माजी ने अपनी 'शिक्षा' में कई बार टिप्पणियाँ लिखकर उन्हें प्रोत्साहन प्रदान किया । उन्होंने जब बंकिम बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रशेखर' और 'कमलाकान्त का इजहार' (प्रहसन) का हिन्दी-अनुवाद किया तथा 'उद्धव' एवं 'बूढ़ामर' (प्रहसन) नामक नाटक लिखे तब शर्माजी ने 'शिक्षा' द्वारा उनकी मेधा-शक्ति को उन्मुक्त हृदय से आशीर्वाद दिया था । कहना चाहिए कि शर्माजी के समान निष्ठावान विप्रदेवता का आशीर्वाद अक्षरशः सफल हुआ जिससे व्रजवल्लभ जी का साहित्यिक जीवन सदा कीर्ति की गोद में पनपता रहा । किन्तु उन्होंने 'कैकेयी' के जीवन से सम्बद्ध एक नये दृष्टिकोण का नाटक लिखा था जो कुछ दिनों तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी स्वीकृत रहा । उस पर शर्माजी ने अपना मतभेद भी प्रकट कर दिया था । शर्माजी रामायण की कथा-परम्परा में आधुनिक स्वच्छन्द विचार को जबरदस्ती ठूँसने के

विरोधी थे। युगधर्म के अनुसार सामयिक सुधारों को भी वे शास्त्रीय मर्यादा के अन्दर नियंत्रित रखने के समर्थक थे। वे स्पष्ट कहते और लिखते थे कि धार्मिक और सामाजिक विषयों में विचारशून्य उच्छृंखलता अत्यन्त भयावह है। विधवा-विवाह मूर्तिपूजा और श्राद्ध पर उनके व्याख्यान ऐसे तर्कसंगत होते थे कि इनके विरोधी और पक्षपाती दोनों इन विषयों पर पुनः विचार करने को विवश हो जाते थे।

उपर्युक्त सभा की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'भारती-हितैषिणी' और उसके बाद मासिक 'साहित्य पत्रिका' के सम्पादन-कार्य में 'ब्रजवल्लभ' जी बराबर शर्माजी से सलाह लिया करते थे क्योंकि उनको केवल साहित्य रचना का ही अभ्यास था पत्र-सम्पादन का विशेष अनुभव नहीं था। किन्तु शर्माजी तो लेखों के संशोधन सम्पादन और सम्पादकीय लेखादि लिखने में ऐसे सिद्धहस्त थे कि एक ही बैठक में एक अंक का मसाला तैयार कर डालते थे। उनका कथन था कि लेखक की मौलिकता को बचा कर ऐसी सावधानी से सम्पादन करना चाहिए कि उसकी नस पर नश्तर न लग जाय। एक बार 'ब्रजवल्लभ' जी की सम्पादित की हुई एक पाण्डुलिपि को देखकर उन्होंने कटे हुए अंशों को पुनः कुछ परिवर्तित रूप में लिखवा दिया और कहा कि लेखक के स्वतन्त्र विचार से सहमत न होने पर उसे काटकर उड़ा देने के बदले उस पर पाद-टिप्पणी में मतभेद प्रकट कर देना उचित है।

शर्माजी के पट्टशिष्य श्री व्रजविहारी शरण जी थे। वे छात्रावस्था में ही शर्माजी से पढ़े थे। वे ब्रजवल्लभजी के पड़ोसी और शर्माजी के प्रति परम श्रद्धालु थे। उन्हें शर्माजी ने ही साहित्य-सेवा में लगाया और अनन्य ईश्वरभक्त तथा नाम-जप का अनुरागी बनाया। वे पटना हाई कोर्ट के ऐडवोकेट थे और गत अगस्त १९६० में ही साकेतवासी हुए हैं।

शर्माजी ने ही मेरा सबसे पहला लेख (होली में सभ्यता का नाश) अपनी 'शिक्षा' में प्रकाशित किया था। वे बराबर नये लेखकों को प्रोत्साहित करते रहते थे। मेरा लेख देखकर उन्होंने प्रोत्साहित किया था कि सभा के पुस्तकालय में प्रतिदिन जाकर पुस्तक पत्र-पत्रिकादि पढ़ा करो और नये-नये शब्दों तथा वाक्यों को लिखकर रखते जाओ। उन्होंने बाल्य

भी दिया कि स्कूल में जो लेख लिखने को दिये जाते हैं उन पर लेख लिखकर मुझे दिखाया करो। इस तरह कई विषयों के लेखों को उन्होंने स्वयं शोधा और 'शिक्षा' में छापा। व्याकरण की बातें वे बड़ी आसानी से समझा देते थे। वे भी नित्य सभा के वाचनालय में आकर बैठते और पाठकों को पढ़ने की रीति सिखाया करते थे। उनके मतानुसार कुछ-न-कुछ नई बात सीखने के लिए ही पढ़ना चाहिए। वे स्वयं अखबार पढ़कर बतला देते थे कि इसमें यह बात सीख रखने योग्य है।

उनके घर में ठाकुरबाड़ी और सरस्वती भवन पुस्तकालय था। ठाकुर जी की पूजा उनके बड़े भाई पाण्डेय सत्यनारायण शर्मा किया करते थे। वे अपने भाई को पिता-तुल्य मानते थे। स्वयं तो अपने ग्रन्थागार में ही अधिक समय बिताते थे। स्वाध्याय के बाद बाहर निकलने पर मित्रों के घर जाते और रास्ता चलते भी हाथ में रुद्राक्ष की सुमिरनी लिये 'शिव शिव' जपते रहते थे। सभा की तरह सिद्धनाथ महादेव प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर भी उनका अड्डा था। वहाँ शिवजी के दर्शनार्थ नियमित रूप से नित्य जाते थे। शंकर स्तोत्रों की एक पुस्तक (शिवनाम कुसुमावलि) उन्होंने स्वयं रची और छपाई थी। उक्त मन्दिर में तन्मयता से नाम कीर्तन करते हुए भी मैंने उन्हें देखा था। नाम-जप तो वे हर घड़ी करते ही रहते थे। बातचीत करते समय भी बीच-बीच के अवकाश-क्षणों का सदुपयोग वे नाम-जप में ही करते थे। वे परम शिवभक्त और भारतीय संस्कृति के अनन्य पुजारी थे।

उनकी वेशभूषा साधारण थी। दिल्लीवाला जूता, पंडिताऊ धोती और गोल टोपी, बन्ददार मिर्जई और चादर। मिर्जई के बन्द कभी खुले हुए और चादर भी कन्धे से आगे या पीछे जमीन तक लटकती हुई। कहीं किसी सभा-सम्मेलन में जाते समय बन्ददार बटनदार अँगरखा पहनकर रेशमी साफा बाँधते थे। वह साफा भी सिर में ऐसा अटपट बँधता कि बोलते समय खुलता जाता और वे समेटते-खोंसते रहते। उनकी सादगी में छिपी विद्वत्ता का अन्दाज अपरिचित व्यक्ति नहीं कर सकता था। सरलता तो बच्चों जैसी थी। कई बार '[illegible]' को मैंने उन्हें टोकते भी देखा—"[illegible] विद्वान् में लड़कपन आप ही में देखता हूँ।" पंडितजी

हँसने लगते। किसी नवविवाहित युवक से बातें करने लगते तो उसके दाम्पत्य-जीवन की बातें भी पूछ बैठते। यह केवल उनका मनोविनोद था। वे रूखे नहीं सरल-हृदय थे। हँसते भी थे दिल खोलकर। बकते व बुलंद से जान पड़ता कि हृदयहीन न हैं। बोलते भी वैसे ही थे। लिखते भी थे अन्यापुरुष। लिखावट कठिनाई से पढ़ी जाती थी। 'बचनस्कम' जी से एक बार कहा भी था कि लक्ष्मीविलास प्रेस के 'शिक्षा' वाले कम्पोजिटरों को ही पंडितजी की लिखावट पढ़ने का अभ्यास है, और किसी का अधिकार नहीं है।

विद्या-व्यसन और सुमिरन-भजन में अहर्निश तल्लीन रहने के कारण वाजपेयजी ऐसे अस्तव्यस्त स्वभाव के लापरवाह थे कि उनके पास अच्छी कलम-दवात भी नहीं रहती थी। वे तो सम्पादक पद पर कभी किसी पेंसिल से ही जैसे-तैसे कागज पर सम्पादकीय लेख घसीट डालते थे। एक चिट्ठी लिखनी हो तो कागज का टुकड़ा खोजने लगते थे। जिस समय आरा-नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा राष्ट्रपति डॉ॰ राजेन्द्रप्रसादजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया मैंने पंडितजी से निवेदन किया कि 'आत्मकथा' लिख डालिए। उन्होंने छूटते ही कहा कि अब मेरे हाथ काँपने लगे हैं, मेरी लिखी चीज पढ़ेगा कौन? वहीं 'बचनस्कम' जी के बहनोई श्री रघुनाथप्रसाद मुख्तार बैठे हुए थे जो हिन्दी-लेखक भी थे। वे बोले कि पंडितजी लिख दें तो मैं साफ नकल कर दूँगा। पंडितजी ने मेरा आग्रह स्वीकार कर आत्मकथा लिख दी, जिसकी मूल प्रति और मुख्तार साहब की नकल की हुई प्रति भी बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय में विद्यमान है। यह आत्मकथा सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' के दो अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुई थी।

जब शर्माजी कलकत्ता-विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता प्राध्यापक नियुक्त हुए तब अपने अन्तरंग मित्र पं॰ जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के साथ उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) में रहते थे। 'मतवाला-मण्डल' (कलकत्ता) में रहते समय मैं भी प्रायः उनके पास जाता था। दोनों विद्वान् सन्ध्या समय बैठकर केवल मुहावरेदार भाषा पर ही विचार-विनिमय किया करते थे। चतुर्वेदीजी भाषा के मर्मज्ञ पारखी

थे और शर्माजी तो प्रकाण्ड वैयाकरण थे ही। दोनों भाषा-विशेषज्ञों की बातें सुनने से नित्य ही ज्ञानवृद्धि होती थी। उन लोगों का भाषा-विचार अतिशय सूक्ष्म होता था। उन लोगों के पास जो हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं उनकी भाषा पर तो बहस होती ही थी नई निकली हुई कोई प्रसिद्ध पुस्तक भी उन लोगों की पैनी दृष्टि से नहीं बच पाती थी। भाषा पर उतनी बारीकी से नित्य प्रति विचार करते मैंने किसी साहित्य-सेवी को नहीं देखा। कभी-कभी महाकवि 'निराला' भी वहाँ आते और उस नित्य भाषा-विचार-गोष्ठी में साधिकार बोलते हुए उन लोगों को प्रभावित करते थे। किन्तु 'निराला'जी ऐसे धीमान हैं कि चतुर्वेदीजी जब उनके अतुकान्त छन्दों पर विनोद छेड़ते तो 'निराला' जी उस परिहास को उपहास न समझकर उसका आनन्द ही लेने में मस्त रहते। इसका कारण यह भी था कि चौबेजी का कोई विनोद कभी निरर्थक नहीं होता था उसमें साहित्यिक सरसता भरी रहती थी और शर्माजी तो संस्कृत-साहित्य के साथ वैदिक प्रमाणों से भी अतुकान्त कविता का समर्थन करने लगते थे। मुझे स्मरण है कि 'मतवाला' का प्रथमांक प्रकाशित होते ही मैं उसे लेकर शर्माजी के पास गया तो उन्होंने प्रथम दृष्टिपात में ही 'जुही की कली' को नवयुगीन कविता में सर्वोत्कृष्ट अन्योक्ति कहकर 'निराला'जी के परोक्ष में उनकी प्रतिभा की भूरि भूरि प्रशंसा की। उसी क्षण उन्होंने चौबेजी को संस्कृत की कई सुन्दर अन्योक्तियाँ सुनाकर पुष्प सम्बन्धी अनूठी उक्तियों से मुग्ध कर दिया। वे दोनों विद्वान् एकमात्र भाषा की विशुद्धता और सार्थकता पर विशेष ध्यान रखते थे। कहना न होगा कि इस गुण के कारण ही वे 'निराला'जी के प्रशंसक बन गये थे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में कई बार शर्माजी के भाषण सुनने के अवसर मुझे प्राप्त हुए थे। बंगीय विद्वानों में संस्कृत और बंगला में निर्भय भाषण करके करतल-ध्वनियों का उपहार लेना साधारण काम नहीं है। किन्तु शर्माजी उन स्वाभिमानी विद्वानों के बीच रहकर अपनी विद्वत्ता के प्रताप से जो प्रतिष्ठा अर्जित कर गये वह हिन्दी संसार के लिए गौरव का ही विषय है।

उसी मिनट-हॉल में श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के सभापतित्व में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का महाधिवेशन हुआ था जिसके बाद ही उसी स्थान पर अखिल भारतीय हिन्दी-पत्रकार सम्मेलन स्वामी भवानीदयालजी की अध्यक्षता में हुआ। उसके स्वागताध्यक्ष शर्माजी ही थे। उस अवसर पर उन्होंने पत्रकार-कला और सम्पादक-कर्तव्य पर जो भाषण किया था उसकी प्रशंसा यहाँ के अंग्रेजी और बंगला-पत्रों में हुई थी। उसी भाषण में हिन्दी के लब्धकीर्ति सम्पादकों की नामावली गिनाते हुए उन्होंने कहा था कि सबकी सचित्र जीवनी प्रकाशित होनी चाहिए जिससे हिन्दी-पत्रकारिता का इतिहास स्वतः तैयार हो जाएगा।

आशा है कि उनकी स्मृतियों के ये कुछ बिखरे कण उनकी याद को ताजा करने के तत्त्व सिद्ध होंगे।[1]

---

१ मिलन : ११ अक्टूबर १९६०। प्रकाशन १९ अक्टूबर, १९६ —दैनिक 'नवराष्ट्र' पटना

स्वर्गीय व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ'

: १ :

गोस्वामी तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की बृहत् जीवनियों के सर्वप्रथम लेखक स्वनामधन्य बाबू शिवनन्दन सहाय के आप एकमात्र सुपुत्र हैं। बिहार राज्यान्तर्गत शाहाबाद जिले के अख्तियारपुर नामक ग्राम में आपका शुभ जन्म विक्रम संवत् १९३१ में भाद्र-कृष्णाष्टमी को हुआ था। वर्तमान संवत् २०११ की माघ पूर्णिमा बुधवार को आरा नगर के अपने निवासस्थान पर सन्ध्या समय आप गोलोकवासी हुए थे। आपका शवदाह-संस्कार बक्सर (शाहाबाद) के गंगा-तट पर हुआ था। पितृपक्ष के अन्तिम दिन (महालया को) आपका विधिवत् श्राद्ध हुआ।

आपका विद्यारम्भ जन्म-ग्राम में ही हुआ था। गया-जिला-स्कूल से आपने एण्ट्रेन्स पास किया था। आप पटना के बिहार नेशनल (बी० एन०) कॉलेज में बी० ए० तक पढ़कर वकालत पास हुए थे और आरा नगर में बयालीस वर्षों तक वकालत की थी। आप आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा के आरम्भिक काल के प्रधान-मंत्री थे। आपके समय में सभा की उत्तरोत्तर उन्नति और प्रसिद्धि हुई। 'नागरी-हितैषिणी', 'समस्यापूर्ति प्रकाश' तथा 'प्रेमाभक्ति-प्रचारक' आदि पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन आपने किया था। आप लगभग ढाई दर्जन पुस्तकों के लेखक थे जिनमें कई उपन्यास, नाटक, गद्यकाव्य, प्रहसन, धर्मशास्त्र, कविता और जीवनी हैं। उपन्यासों में 'सौन्दर्योपासक', 'लालचीन', 'विस्मृत सम्राट्' और 'विचित्रदर्शन' मुख्य तथा जग-जाहिर हैं। प्रथम का अनुवाद मराठी और गुजराती तथा दूसरे का भी गुजराती में ही हुआ है। नाटकों में 'कलंक-

मार्तण्ड' प्रसिद्ध हैं। 'मैथिल-कोकिल विद्यापति' नामक ग्रन्थ लिखकर आपने ही सबसे पहले विद्यापति को बंगला-साहित्य से हिन्दी-साहित्य में लाकर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयत्न किया था। 'बिहार-बन्धु' (पटना) 'भारत भगिनी' (प्रयाग) 'कवि-समाज और कविमंडल पत्रिका (काशी) 'ब्राह्मण' (पटना) आदि पुराने हिन्दी-पत्रों में आप बराबर लेख कवितादि लिखा करते थे।

आपके पुराने साहित्यिक मित्रों में कुछ के नाम विशेष उल्लेख्य हैं श्री बालमुकुन्द गुप्त पं० प्रतापनारायण मिश्र ('ब्राह्मण'-सम्पादक) पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र ('उचित वक्ता'-सम्पादक) लाला सीताराम बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारत-जीवन) पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी पं० किशोरीलाल गोस्वामी कविवर हरिऔध जी और रत्नाकरजी बाबू श्यामसुन्दर दास मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा श्री मैथिलीशरण गुप्त आदि। हिन्दी में सर्वप्रथम साहित्यिक मौलिक उपन्यास लिखने का श्रेय आपको ही है। श्रीमान छतरपुर-नरेश ने आपको सादर निमन्त्रित कर विशेष रूप से सम्मानित किया था।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर सभा की ओर से आपका अभिनन्दन किया गया था। बेगूसराय (मुंगेर) में बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का जो चौदहवाँ महाधिवेशन सन् १९३६ में हुआ था उसके आप ही सभापति थे तथा आपका साहित्यिक भाषण अत्यन्त महत्वपूर्ण था। आपने आरा के नागरी-हिन्दी-पुस्तकालय को अपना निजी पुस्तकालय दानस्वरूप दे दिया था जो आपके पूज्य स्वर्गीय पिता बाबू शिवनन्दन सहाय के स्मारक के रूप में सुरक्षित है। सन् १९५० में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का डेढ़ हजार रुपये का वयोवृद्ध-साहित्यिक-सम्मान पुरस्कार सर्वप्रथम आपको ही प्राप्त हुआ था। आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने के शुभ अवसर पर आपको सभा की ओर से प्रशस्तिपत्र-सहित 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि प्रदान की गई थी।

आपके चार पुत्रों में ज्येष्ठ श्री रमेशनन्दन सहाय एम० ए० बी० एल० के ऐतिहासिक लेख प्रायः हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते

है। साहित्यिक वंश-परम्परा अक्षुण्ण है।

आपकी रुग्णावस्था का समाचार सुनकर मैं आपके दर्शनार्थ आरा गया था। रोगशैया पर अस्थिमात्रावशेष देखकर बड़ी करुणा हुई। उस दशा में भी मसनद के सहारे बैठकर आपने एक घंटे तक साहित्यिक संस्मरण सुनाये। आपके शब्दों में ही सुनिए—

'मेरे पिताजी (बाबू शिवनन्दन सहाय) गवर्नमेंट के ट्रान्सलेटर थे। उनके साथ पटना रहकर मैं पटना-कालेजियट में पढ़ता था। स्कूल के हिन्दी-शिक्षक पंडित बिहारीलाल चौबे मुझे बड़े स्नेह से पढ़ाते थे। वे अच्छे साहित्यिक व्यक्ति थे। उनकी जीवनी 'सरस्वती' में छपी थी। जब कभी वे कान ऐंठते थे तब मालूम होता था कि कानों को मरोड़कर घसीट लेंगे। उसी गोस्वामी (कसौटी) की बदौलत उनकी बताई हुई एक-एक बात मुझे आज तक याद है। वे हाईस्कूल में ही शब्दों की व्युत्पत्ति सिखाते थे। शब्दों के अर्थ और प्रयोग जो उन्होंने बतलाये थे वे कॉलेज की पढ़ाई में भी काम आते रहे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास जब छपरा और भागलपुर के जिला-स्कूल में हेड पंडित थे तब पटना आने पर मेरे पिताजी के पास ही प्रायः ठहरते थे। उन्होंने भी मुझे लड़कपन में ही कविता बनाने के नियम सिखाये थे। वे जब आते थे तब नई कविता और नया श्लोक मुझसे सुनते थे। उनके आने की खबर पाकर पिताजी मुझे कविता और श्लोक कण्ठस्थ करा देते थे। पिताजी जब पटना सिटी के हरमन्दिर में 'बाबा सुमेरसिंह साहबजादा' से मिलने जाते थे तब अक्सर मुझे भी साथ ले जाते थे। बाबा ने ही मुझे पिङ्गल पढ़ने की प्रेरणा दी। जब मैं बी० एम० कॉलेज में पढ़ता था तभी उन्होंने अपनी 'समस्यापूर्ति' पत्रिका के सम्पादन का काम सौंप दिया। उनकी देख-रेख में काम करने से उनके स्वर्गीय होने के बाद भी मैं उनका सहेजा हुआ काम कुछ दिनों तक करता रहा। वे काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। पंडित अम्बिकादत्त व्यास के साथ उनकी बात चीत होने लगती थी तो छन्द-शास्त्र और अलंकारशास्त्र की चमत्कार पूर्ण बातें सुनकर शास्त्रीय ज्ञान बहुत बढ़ जाता था। यही हाल पंडित दामोदर शास्त्री का भी था। वे खड्गविलास प्रेस में दान-पोषण आदि

काम करते थे। संस्कृत के वे बहुत अच्छे विद्वान् थे। पंडितों से प्रायः संस्कृत में ही बतियाते थे। उनकी पत्नी कभी किसी परपुरुष के सामने होकर बात नहीं करती थीं। मराठी महिला होने के कारण पर्दा प्रथा नहीं मानती थी पर सबके सामने मुँह मोड़कर बात करती थीं। थोड़ी संस्कृत भी जानती थीं। कभी-कभी मुझसे संस्कृत में ही कोई छोटा प्रश्न पूछती थी। वे ऐसी बलवती थीं कि दो भर भरे घड़ों को लेकर ऊँची सीढ़ियों पर भागकर चढ़ जाती थीं। महाराष्ट्र-दम्पति का संस्कृत में परस्पर भाषण करते मैंने सुना था। शास्त्रीजी हिन्दी की शुद्धता पर विशेष ध्यान रखते थे। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की भाषा में अशुद्धियाँ को झट पकड़ लेते थे। चौबेजी और व्यासजी प्रायः व्याकरणविषयक प्रश्न ही करते थे। शास्त्रीजी से उन लोगों की बातचीत प्रायः भाषा की शुद्धता पर ही होती थी। आजकल के साहित्य-सेवी व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने पर कम ध्यान देते हैं। पर, वे लोग शब्द शास्त्र के मन्थन और मनन में ही लगे रहते थे। जब वे लोग बहस करने लगते थे तब बाबू रामदीन सिंह तुरन्त मिठाइयाँ मँगाकर उन लोगों के सामने परोस देते थे। महाराजकुमार (बाबू रामदीन सिंह) के समान विद्वानों का सम्मान करनेवाला गुणग्राही उस समय कोई न था। उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों की लिखी पुस्तकें काफी रुपये देकर खरीद भी थीं। उनके मरने के बाद कई आलमारियाँ अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से भरी थीं। किसी को उन्होंने निराश-विमुख नहीं किया। गरीबी होने पर, कन्या के विवाह में, समाज में कष्ट पाने पर और किसी संकट में पड़ने पर साहित्य-सेवी लोग उन्हीं के पास पहुँच जाते थे और निश्चय ही सहायता-समाश्वस्त होते थे। वैसा त्यागी और दानी होना कठिन है।"

मेरे बहुत मना करने पर भी आप संस्मरण सुनाते ही जाते थे। इस लिए मैं यह कहकर जल्दी चला आया कि दूसरी बार आकर सुनूँगा। पर एक महीने के अन्दर ही आपके मरने की खबर मिली। मैं पुकार करने भी गया था और ठीक महाप्रयाण के दिन आकर श्राद्ध में भी सम्मिलित हुआ था। मुझे बहुत पश्चात्ताप है कि आपसे साहित्यिक

संस्मरणों को सुनकर न लिख सका। इसी तरह अनेक वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों के साथ अमूल्य साहित्यिक संस्मरण चले गए।[1]

२ :

आरा निवासी प्रतिष्ठित वकील बाबू ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' हिन्दी संसार में बिहार के सबसे अधिक यशस्वी और सफल उपन्यासकार थे। उनका 'सौन्दर्योपासक' नामक पहला मौलिक उपन्यास वर्तमान सदी की प्रथम शताब्दी में ही प्रकाशित हुआ था। उस युग के साहित्य-जगत् में उसकी काफी धूम रही। उस समय के दैनिक साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों और पत्रिकाओं में उसकी खूब चर्चा हुई क्योंकि उन दिनों वह अपने ढंग का अकेला उपन्यास था। वह हिन्दी का सर्वप्रथम गद्य काव्यात्मक उपन्यास माना जाने लगा।

सम्पादकाचार्य द्विवेदीजी ने कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्तजी से उसका समालोचनात्मक परिचय लिखवाकर अपनी 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके आरम्भ में जो 'प्रेम' नामक कविता है वह भी 'सरस्वती' में पृथक् प्रकाशित हुई थी।

वह उपन्यास पटना के खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ था। उसी प्रेस से साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' निकलती थी। उसके सम्पादक थे पंडित सकलनारायण शर्मा। ब्रजवल्लभजी से शर्माजी की बड़ी घनिष्ठता थी। उक्त प्रेस के साथ भी ब्रजवल्लभजी का अपनापन का सम्बन्ध था। अतः 'शिक्षा' में 'सौन्दर्योपासक'-सम्बन्धी कई लेख छपे। पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा पंडित पारसनाथ त्रिपाठी श्री दामोदर सहाय 'कविकिंकर' पंडित जगन्नाथ मिश्र और पंडित रामरक्षित मिश्र के लेखों से साहित्य-क्षेत्र में उसकी बड़ी धाक जमी।

ब्रजवल्लभजी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। उन्होंने फिर आगे कई

---

1 मूल शीर्षक : श्री ब्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ'।
प्रकाशन : जनवरी, १९६७— 'साहित्य' (बि० हि० सा० स०)।

अच्छे उपन्यास लिखे। 'विश्व-सम्राट्' खड्गविलास से ही निकला। पुस्तक भण्डार (लहेरिया सराय दरभंगा) से 'विश्वदर्शन' प्रकाशित हुआ। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की मनोरंजन-पुस्तक-माला में 'लाल चीन' मुद्रित हुआ। ऐतिहासिक दार्शनिक, सामाजिक सब तरह के उपन्यासों में उन्होंने भाषा का साहित्यिक सौन्दर्य प्रदर्शित किया। प्रेम परक 'सौन्दर्योपासक' में भी उन्होंने आध्यात्मिक विचारों का यथास्थान समावेश किया है।

जिन उपर्युक्त लेखकों के नाम 'शिक्षा' में छपे थे सबने उनकी सरस और ललित भाषा-शैली की ही प्रशंसा की थी। उन दिनों कथावस्तु, चरित्र-चित्रण आदि की समीक्षा बहुधा कम होती थी। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की ओर बहुत कम आलोचक ध्यान देते थे परन्तु भाषा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। आज बात उलटी हो गई है। युगानुसार स्थिति बदलती रहती है।

उस समय नये ढंग की रचना के लिए लेखक को बहुत अधिक प्रशंसा मिलती थी। नया विषय नई शैली नया चमत्कार, नई प्रतिभा नया रंग-ढंग जहाँ-कहीं दीख पड़ता था अधिकांश विद्वान् और पत्र सम्पादक उसका स्वागत करते थे क्योंकि हिन्दी को आगे बढ़ाना था उसके कलेवर को सुन्दर बनाना था उसके साहित्य को समृद्ध करना था। इसके सिवा किसी के उत्कर्ष के प्रति कोई ऐसा असहिष्णु नहीं था कि उसके गुणों की ओर से भी आँखें मूँद ले। साहित्य-क्षेत्र में राग द्वेष बहुत कम था। वह अभिनन्दन साधनों का युग था। उन लोगों की साधना का फल आधुनिक काल में प्रत्यक्ष है।

किन्तु मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि उस समय समालोचना की कड़ी कसौटी न होने के कारण ही व्रजवल्लभजी लब्धकीर्ति हुए। उस समय भी 'भारत मित्र' (कलकत्ता) 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार' (बम्बई) 'ब्राह्मण सर्वस्व' (इटावा) 'मधुप-प्रचारक' (दिल्ली) 'पांचाल-पण्डिता (लाहौर) आदि साप्ताहिक-मासिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके बहुप्रशंसित उपन्यास के गुण-दोष का विवेचन भली भाँति हुआ था किन्तु इस बात से किसी का मतभेद नहीं था कि भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से 'सौन्दर्योपासक' अनुपम है।

बिहार के पूर्वोक्त लेखक तो व्रजवल्लभजी के सुपरिचित मित्र ही थे पर उनके लेखों को भी किसी ने पक्षपातपूर्ण कहने का साहस नहीं दिखाया। इसका मुख्य कारण उस युग की निर्मल परिस्थिति ही थी। विशेषतः हिन्दी-हितपक्ष की दृष्टि से ही लोग विचार करते थे। जब आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में उस उपन्यास की प्रशंसा हुई तब औरों की बात ही क्या क्योंकि द्विवेदीजी महाराज की नजरों से गुजरने वाली प्रत्येक पंक्ति उस समय प्रामाणिक मानी जाती थी। इसीलिए पंडित सकलनारायणजी ने 'शिक्षा' की सम्पादकीय टिप्पणी में 'सरस्वती' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करके लिखा था कि 'सौन्दर्योपासक' की श्रेष्ठता पर इससे बड़ी मुहर लग गई है। बात भी ठीक थी।

मेरा अनुमान है कि इस प्रगतिशील युग की समीक्षा-पद्धति के अनुसार मनोवैज्ञानिक कसौटी पर भी उनके उपन्यासों की जाँच की जाएगी तो वे असामयिक नहीं सिद्ध होंगे। किन्तु अब वे उपन्यास सुलभ नहीं हैं। आरा-जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व मन्त्री ठाकुर नन्दकिशोरसिंहजी उनकी सभी पुस्तकों का संग्रह करके एक सुसम्पादित ग्रन्थावली प्रकाशित कराना चाहते थे। पुस्तक-संग्रह भी कर चुके थे प्रकाशन के प्रबन्ध में बड़ी लगन से जुटे थे पर अचानक चल बसे। काम अधूरा रह गया। यदि ग्रन्थावली निकल जाती तो इस शोध-समीक्षा-प्रधान युग में साहित्यिक अनुसन्धायकों को बड़ा लाभ होता। साहित्य सेवियों की ग्रन्थावली प्रकाशित करने पर समर्थ प्रकाशकों को ध्यान देना चाहिए। आज के शोधकर्ता ऐसी ग्रन्थावलियों की खोज करते हैं, पर बहुधा उन्हें निराश ही होना पड़ता है। हिन्दी के प्रमुख अधिकारी साहित्यकारों की ग्रन्थावली की बड़ी कमी है। इससे अनुसन्धानात्मक और आलोचनात्मक साहित्य के निर्माण में बहुधा बाधा पड़ रही है। 'व्रजवल्लभ-ग्रन्थावली' के प्रकाशन से हिन्दी उपन्यासों के विकास-क्रम के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय लिखने में सहायता मिलेगी।

व्रजवल्लभजी के पिता श्री शिवनन्दनसहाय भारतेन्दु-युग के सम्मान्य लेखकों में थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं

भक्त सन्त रूपकलाजी और सिक्ख-गुरुओं की जीवनियाँ लिखी थीं। तुलसीदासजी की वृहत् जीवनी को पुनः संशोधित करके वह छोड़ गए थे जिसका नया संस्करण बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) से प्रकाशित होनेवाला है। आशा है कि उनकी लिखी भारतेन्दुजी की जीवनी भी परिषद् से पुनः प्रकाशित होगी। उनकी लिखी रूपकलाजी की जीवनी का भी नया संस्करण पटना की रूपकला-समिति से निकला है। उसमें उन्होंने सन् १९०२ तक का ही जीवन-वृत्त लिखा था। किन्तु सन् १९०२ के बाद सन् १९३२ तक का जीवन-वृत्त पटना हाईकोर्ट के ऐडवोकेट श्री अवधविहारी शरणजी ने लिखकर पूरा कर दिया है क्योंकि रूपकलाजी सन् १९३२ ई० के आरम्भ में ही साकेतवासी हुए थे। उक्त शरणजी भी गत वसन्त (सन् १९६०) में साकेतवासी हो गए। वह भी आरा-निवासी ही थे। उनके साथ व्रजवल्लभजी की घनी मैत्री थी। दोनों पड़ोसी थे और परम रामभक्त भी।

'व्रजवल्लभ' जी का मूल निवासस्थान मनियारपुर (बड़कागाँव) नामक गाँव था जो आरा नगर से एक-डेढ़ कोस दूर पश्चिम में है। वह धनी-मानी कायस्थों की प्रसिद्ध बस्ती है। वहीं से उनके पूर्वज आरा के बाबूबाजार मुहल्ले में आ बसे थे। उनके पिता पटना के सरकारी अँगरेजी दफ्तर में हिन्दी-अनुवादक थे। अतः उनकी शिक्षा पटना-स्थित बी० एन० (बिहार नेशनल) कालेज में हुई थी। जिस समय वह बी० ए० के छात्र थे उसी समय 'समस्यापूर्ति' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन करते थे। उस पत्रिका के संचालक थे पटना सिटी के हरिमन्दिर के प्रधानाधिष्ठाता बाबा सुमेरसिंह साहबजादे। बाबा सुमेरसिंह भी हिन्दी-कवि थे। उन्होंने श्री शिवनन्दन सहायजी को पत्रिका-सम्पादक बनाया था क्योंकि शिवनन्दन सहायजी नानकपन्थी धर्म के अनुरागी थे। एक बार आरा के उनके निवास-स्थान पर बड़े समारोह से गुरु गोविन्दसिंह की जयन्ती मनाई गई थी जिसमें 'संगत' का आयोजन हुआ था और हिन्दी के स्वनामधन्य महाकवि पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आमन्त्रित होकर आए थे। उस समय इन पंक्तियों के लेखक को भी 'हरिऔध' का सत्संग पाने का सुयोग मिला था। तब शिवनन्दन

महामनाजी पेन्शन पाकर पटना से आरा चले गए, तब बाबा साहब की सलाह से अपने पुत्र को ही पत्रिका-सम्पादक का भार सौंप गए। उसके पहले 'ब्रजवल्लभ' जी की समस्या-पूर्तियाँ भी पत्रिका में प्रकाशित हुआ करती थीं।

'ब्रजवल्लभ' जी बड़े प्रतिभाशाली विद्यार्थी रहे। साहित्य-सेवा तो उनकी पैतृक सम्पत्ति ही थी। छात्रावस्था में ही एक छोटे अंग्रेजी उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। उनका विवाह बंगाल के वीरभूमि नामक नगर के एक बंगीय कायस्थ-परिवार में हुआ था। वह बंगला के बड़े अच्छे विद्वान् थे। बंग-साहित्य-सम्राट् बंकिम बाबू के कुछ उपन्यासों का हिन्दी-अनुवाद भी उन्होंने किया था। सबसे पहले उन्होंने ही 'मैथिल-कोकिल विद्यापति' नामक ग्रन्थ लिखकर महाकवि विद्यापति को बिहार का निवासी प्रमाणित किया था। वह ग्रन्थ आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ था। सभा ने बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद् की आर्थिक सहायता से उस ग्रन्थ का दूसरा नया संस्करण भी प्रकाशित किया है। उक्त परिषद् से दस हजार रुपए का 'वयोवृद्ध साहित्यिक-सम्मान-पुरस्कार' सर्वप्रथम उनको ही मिला था। उनके रचे साहित्य से आकृष्ट होकर छतरपुर (मध्यप्रदेश) के साहित्यानुरागी नरेश ने उन्हें सादर आमन्त्रित करके सम्मानित किया था। उस समय श्री गुलाबरायजी (वर्तमान 'साहित्य-सन्देश'-सम्पादक) वहाँ महाराज के निजी सचिव थे और मिश्रबन्धु भी वहीं थे।

सन् १९१४ में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाँचवाँ महाधिवेशन लखनऊ में हुआ था। पंडित श्रीधर पाठक सभापति थे। *श्री श्यामसुन्दरदासजी वहाँ के कालीचरण हाईस्कूल के हेड* मास्टर थे। स्कूल के आँगन में ही सम्मेलन का पण्डाल बना था। आरा नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल वहाँ गया था। ब्रजवल्लभजी उस मण्डल के मुखिया थे। उपर्युक्त व्रजबिहारी शरणजी भी उस दल में थे। आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि भी साथ ही थे। मैं भी गया था। सम्मेलन में प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों द्वारा ब्रजवल्लभजी का आदर-सत्कार देखकर इस बात का पता

स्पष्ट था कि साहित्य के विद्वानों में उनकी कैसी प्रतिष्ठा है। श्याम सुन्दरदास जी और मिश्रबन्धुओं से उनका मित्रवत् व्यवहार देखने में आया। हिन्दी के सुकवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' उनसे मिलने के लिए प्रतिनिधि-निवास में आये। जबलपुर के यशस्वी 'मानस'-टीकाकार श्री विनायक राव साठे उनसे बार-बार गले मिले। बन्धुओं का वह मिलन महोत्सव बड़ा आकर्षक और हृदयग्राही था। वैसे दृश्य अब दुर्लभ हो गए।

चौथी बार अयोध्या में श्री रूपकलाजी के दर्शनार्थ सब लोग उतर पड़े। वह लक्ष्मणनिवास में रहते थे। उनका शिष्य-समाज का सामान अपूर्व था। वह 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' की प्रसंगानुकूल पंक्तियों को कहकर ही बातचीत करते थे। चाहे किसी विषय का प्रसंग छिड़ा हो, किसी तरह का कोई प्रश्न ही क्यों न हो, सबके लिए वह उन्हीं दोनों ग्रन्थों की उपयुक्त पंक्तियों का प्रयोग करते थे। उनकी स्मृति-शक्ति की अलौकिकता देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। उनमें ब्रजवल्लभजी और अवधविहारी शरणजी की असीम श्रद्धा थी। तुलसी-साहित्य पर उनका असाधारण अधिकार था। वह बिहार के सारन जिले के निवासी थे। भक्तमाल पर उनकी टीका प्रसिद्ध है। रामभक्ति-साहित्य के मर्मज्ञों में उनका आदरणीय स्थान है। पहुँचे हुए सन्त तो थे ही, शुद्ध साहित्यिक भी थे।

आरा की नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना सन् १९०१ में हुई थी। उसके संस्थापकों में पंडित सकलनारायणजी अग्रगण्य थे। आरम्भ से ही ब्रजनन्दनजी उसके प्रधान मंत्री थे। उनके समय में सभा ने देशी रजवाड़ों और सरकारी दफ्तरों में हिन्दी-नागरी प्रचार के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किए थे। उन्होंने अंग्रेजी में बड़े लम्बे-चौड़े सप्रमाणिक विवरण और स्मरणपत्र सबल भेजे थे। उस समय के विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी-साहित्य के प्रतिष्ठापन के लिए उन्होंने 'मेमोरंडम' भेज-भेजकर सफल उद्योग किया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी का प्रवेश कराने में उनको पंडित जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी से बड़ी सहायता मिली थी। सभा की मासिक 'साहित्यिक पत्रिका' के सम्पादन प्रकाशन में भी वह बड़े मनोयोग से सहयोग प्रदान करते थे। सभा की

आरम्भिक उन्नति का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। उनकी हिन्दी-सेवा से प्रभावित होकर ही श्यामसुन्दरदासजी ने उनकी, उनके पिताजी की और पंडित सकलनारायणजी की जीवनियाँ 'हिन्दी-कोविद रत्नमाला' नामक अपनी पुस्तक में प्रकाशित की थी। प्रधान-मंत्री के पद से अवसर ग्रहण करने के बाद सभा ने भी उन्हें 'विद्या-वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था। बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के बेगूसराय (मुंगेर) वाले वार्षिक अधिवेशन के सभापति वही हुए थे। उन्होंने अपना सारा साहित्य-संग्रहालय अपने जीवन-काल में ही आरा के बाल-हिन्दी पुस्तकालय को अपने स्वर्गीय पिता के स्मारक के रूप में समर्पित कर दिया था जो बड़ा लोकोपयोगी है।

'व्रजवल्लभ' जी के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री रमेशनन्दन सहाय एम० ए० बी० एल० आजकल जमशेदपुर की टाटा-कम्पनी में एक ऊँचे ओहदे पर हैं। वह भी साहित्यकार हैं। उनकी रचनाएँ 'माधुरी' (लखनऊ) में छपा करती थीं। पर अब वह अपनी वंश-परम्परागत साहित्य-सेवा से विमुख दीख पड़ते हैं। व्रजवल्लभजी जब मृत्युशैया पर थे, मैं उन्हें देखने आरा गया था। उस समय उनसे जो वार्तालाप हुआ वह भी साहित्यिक संस्मरणों के रूप में था। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के त्रैमासिक मुखपत्र 'साहित्य' में उन पुराने संस्मरणों का प्रकाशन हो चुका है। उस समय मेरे मन में यह भाव उठा था कि उनसे अतीत-युग के संस्मरण यदि लिखवा लिये गए होते तो वह चीज हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि होती। अनेक पुराने साहित्यकार अपने साथ ही बहुमूल्य संस्मरण लेते चले गए। पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' द्वारा साहित्यिक संस्मरणों के प्रकाशन को काफी उत्तेजन और प्रोत्साहन दिया। तभी से यह क्रम इस देश में चल रहा है। इससे साहित्य-जगत् की बहुत-सी अज्ञात बातों का उद्घाटन होगा, जिससे शोधकों को भी सहायता मिलेगी।

'व्रजवल्लभ' जी का कद कुछ नाटा था। उन्हें मँझोले कद का व्यक्ति समझना चाहिए। उनकी छोटी-छोटी दाढ़ी उनके चेहरे को भव्य बनाती थी। अदालत में बहस करने जाते समय वह काला चोगा भी

पहनते थे। साधारणतः कमीज, कोट, धोती और माथे पर दुपल्ली टोपी ही उनकी स्वाभाविक वेशभूषा थी। छड़ी लेकर सुबह-शाम टहलने निकलते थे। लगभग अस्सी-पचासी वर्ष की आयु में महीना बीमार रहने के बाद उनका देहान्त हुआ था। जीवन भर उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा। खान-पान में वह बड़े संयमी थे। रहन-सहन में भी सादगी पसन्द थे। प्रायः वह मुस्कराकर बोलते थे। आवाज में कुछ लड़खड़ाहट थी। अंग्रेजी और ब्रज भाषा के साहित्य का बड़ा गम्भीर अध्ययन किया था। दार्शनिक चर्चा में उनकी अध्ययनशीलता का परिचय मिलता था। भाषण करने का अभ्यास तो था ही क्योंकि एक मुंशी वकील थे पर सभा-सम्मेलनों से उदासीन रहा करते थे। केवल लिखते रहने में ही उनको सन्तोष और शान्ति का अनुभव होता था। उनके अक्षर सुपाठ्य तो होते थे पर सुन्दर नहीं। कहा करते थे कि मेरे अक्षर मेरे पिताजी के नन्हे-नन्हे अक्षरों के बड़े-बड़े प्रतिरूप हैं। बात सही थी। पिता-पुत्र का रूप भी एक-सा था।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वह कवि एवं कथाकार के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे।[1]

---

1 मिलन : २ जनवरी (मोदी अवस्था), १९६६ ।
सहायक जनवरी १९६०—नर्मदेश्वर 'व्रजवल्लभ' (दीवानजी कि...), पटना ।

हास्यरसावतार पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

मलयपुर (मुंगेर) के निवासी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिन्दी संसार के उन प्रमुख साहित्य-महारथियों में थे जिन्होंने हिन्दी के विकास युग में हिन्दी के हित की ही बात सोची थी और उसकी उन्नति के उपाय करते रहने में ही अपना सारा जीवन लगाया था।

अपने युग में चतुर्वेदीजी हिन्दी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते रहे। भाषा-विषयक उनकी विशेषज्ञता ने उस समय के कितने ही धुरन्धर लेखकों को परेशानी में डालकर उनका लोहा मानने के लिए बाध्य किया था। उन दिनों के भाषा-सम्बन्धी विवादों में वह बड़ी निर्भीकता से अपने पक्ष पर दृढ़ रहते थे। शुद्धाशुद्ध भाषा की बारीकियाँ परखने में उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। इसी धरती में उनके जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता था। चाहे वह बाजार में रहें या ट्रेन में सफर करते हों हर घड़ी उठते-बैठते चलते-फिरते खाते-नहाते वह व्याकरण-सम्मत शुद्ध भाषा पर ध्यान रखने में सजग रहते थे। बातचीत के प्रसंग में भी उनके सामने कोई अशुद्ध भाषा बोलता था तो वह सुपरिचित व्यक्ति को तुरन्त टोककर सावधान कर देते थे पर दूसरों को किसी व्याज से ही शुद्ध रूप ज्ञात करा देते थे। पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते समय दुष्प्रयोगों पर निशान करते चलते थे। नाटक देखते समय अभिनेताओं के कथोपकथन पर ही उनका विशेष ध्यान रहता था। सभा-सम्मेलनों के भाषणों में भी उनके कान चौकन्ने रहते थे।

कलकत्ता-स्थित उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) में महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा भी साथ रहते थे। वह कलकत्ता

विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता और सिद्ध वैयाकरण थे। जब ये विद्वान् सब साथ मिल बैठते तब प्रायः भाषा और साहित्य के विषय में ही वार्तालाप करते थे। यह नित्य का प्रसंग था। दोनों की मैत्री आदर्श थी। दोनों ही बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से भाषा के प्रचलित रूप का परिष्कार किया करते थे। 'मतवाला'-मण्डल से उस समय मैं प्रायः उन भाषा के दर्शनार्थ जाता था। अतः उन लोगों की दृष्टि की गहरी पैठ के एकाध उदाहरण भी मैं दे रहा हूँ।

एक अखबार में छपा वाक्य था—"यह समाचार समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ था।" उन लोगों का संशोधन इस प्रकार था—"समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ था।" व्याकरण-विषयक अशुद्धियों पर तो वे ध्यान देते ही थे वाक्यों के कलात्मक रूप पर भी निगाह रखते थे। उन लोगों के विचार से 'हिचकिचाहट' शब्द के बदले 'हिचक' लिखना ही उपयुक्त है। शब्दों और वाक्यों के ऐसे अनेक उदाहरणों को यहाँ लिखकर उस मित्रगोष्ठी की साहित्य-चर्चा का विस्तृत विवरण देने के लिए स्थान नहीं है, पर समझदार के लिए उपर्युक्त संकेत पर्याप्त है।

चतुर्वेदीजी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। सम्भवतः वह बारहवाँ अधिवेशन था और लाहौर में हुआ था। उन्होंने अपने भाषण में भी भाषा की प्रचलित अशुद्धियों पर हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। जैसे—'सम्पादक सरस्वती' लिखना अशुद्ध और 'सरस्वती-सम्पादक' लिखना ही शुद्ध बतलाया था। और भी कितने ही उदाहरण उस भाषण में द्रष्टव्य हैं।

उस समय मैं आरा में रहता था। जिस गाड़ी से वह लाहौर जा रहे थे वह आधी रात में आरा स्टेशन पर पहुँची। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय-प्रबन्धक श्री मुकुटेशसिंह और मैंने पुष्प माला पहनाई। उन्होंने हँसते हुए कहा "तुम लोग जाड़े की रात में आये हो और इतनी बड़ी मालाओं से तन भी भिगाया इसलिए जाड़े की सौगात लेते जाओ।" यह कहकर उन्होंने मूँग-अम्बर (मूँगफली का रूप) के दो चार दिये और अपने भाषण की दो छपी प्रतियाँ भी दीं। हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों से वह प्रायः यही पूछा करते थे "हिन्दी में कितना

और चिट्ठी का पता लिखते हो ? किस हिन्दी-पत्रिका के ग्राहक हो ? कौन हिन्दी-पत्र खरीदकर पढ़ते हो ? साल-भर में कितने रुपये की हिन्दी-पुस्तकें खरीदते हो ? अब तक कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ चुके हो ? सच मुच हिन्दी पर उनकी अथाह ममता थी ।

उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था । वहाँ अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाँचवाँ महाधिवेशन कविवर पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में हुआ था—सन् १९१४ में । आरा की नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रतिनिधि-मण्डल वहाँ गया था । उसमें आचार्य बदरीनाथ वर्मा श्री व्रजबिहारी शरण पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा श्री व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' श्री रघुनाथप्रसाद मुख्तार आदि साहित्य-सेवी सम्मिलित थे । चतुर्वेदीजी सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन में अवश्य जाते थे । प्रत्येक अधिवेशन में सभापति निर्वाचन का प्रस्ताव सर्वप्रथम वही उपस्थित करते थे । सभापति के नाम का अक्षर-विश्लेषण करने में उनका साहित्यिक विनोद सुनने के लिए सभी प्रतिनिधि ऐसे उत्कण्ठित रहते थे कि मंच पर उनके आते ही करतल-ध्वनि होने लगती थी । वह बाबू श्यामसुन्दर दासजी के अतिथि थे जो उन दिनों वहाँ कालीचरण हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे और उसी स्कूल के प्रांगण में सम्मेलन हुआ था । पर वह बिहार के प्रतिनिधि-निवास में सभापति पाठकजी श्यामसुन्दर दासजी कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और मित्रबन्धुओं को साथ लेकर आये तथा बिहारी प्रतिनिधियों का उन्होंने स्वयं सबसे परिचय कराया । बिहार पर भी उनका अगाध स्नेह था ।

इस सम्मेलन के पहले ही दिन लखनऊ के उर्दू-प्रेमियों ने एक सभा करके हिन्दी की खिल्ली उड़ाई थी । चौबेजी व्रजवल्लभजी और पंडित बदरीनाथ भट्ट के उद्योग से दूसरे ही दिन अधिवेशन के बाद रात में सम्मेलन की एक विराट बैठक हुई जिसमें कविवर 'पूर्ण' जी ने उर्दू-सभा की प्रत्येक बात का मुँहतोड़ जवाब अपनी धाराप्रवाह-मधुर कविताओं में दिया । उनके आशुकवित्व का विलक्षण चमत्कार देख सभी प्रतिनिधि

विस्मयानन्द से पुलकित हो उठे। कलकत्ता-सम्मेलन के कार्य-विवरण में यह प्रसंग सविस्तार प्रकाशित है।

उसी पाँचवें सम्मेलन में महात्मा मुंशीरामजी के सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी ने छठे सम्मेलन के लिए लाहौर का निमन्त्रण दिया था। किन्तु अप्रत्याशित सूचनाओं के अनुसार वह राजा महेन्द्रप्रताप सिंह के निजी सचिव होकर विदेश चले गए, इसलिए छठा सम्मेलन लाहौर में न होकर सम्मेलन के प्रधान-केन्द्र प्रयाग में ही हुआ। मैं उसमें भी गया था। आचार्य श्यामसुन्दर दासजी उसके सभापति थे। लाला रामप्रसाद के बाग में बड़ा शानदार उत्सव हुआ। भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उसमें पधारे थे। वह भारतेन्दुजी की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे। वेशभूषा भी हरिश्चन्द्री थी। बुढ़ापे में भी उनकी रसभरी सुषमा और उनके रईसी ठाट-बाट पर प्रतिनिधियों की टकटकी बँध गई। सम्पादकाचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी भी प्रथम दिन आये थे। वह जीवन-भर कभी किसी अन्य सम्मेलन में नहीं गये। सम्मेलन के सभापतित्व को वह बराबर ठुकराते ही रहे। उनके शुभागमन से प्रसन्न होकर सब लोग यही कह रहे थे कि श्यामसुन्दर दासजी के सभापति होने से ही द्विवेदीजी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए हैं। दोनों आचार्यों की साहित्यिक स्पर्द्धा उस युग में बहुत प्रसिद्ध थी और ऊँचे स्तर के साहित्यिक मण्डल में वह चर्चा का विषय भी बनी रहती थी। किन्तु द्विवेदीजी जहाँ सुदृढ़ स्वाभिमानी थे वहाँ वह सच्चे हिन्दी-सेवक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने में अपने सिद्धान्त में भी अटल थे। उन्होंने सभापति को उन्मुक्त हृदय से जो आशीर्वाद दिया उसमें श्यामसुन्दर दासजी की हिन्दी-सेवा पर अजस्र पुष्पवृष्टि कर डाली। उस समय सभापति के सजल नयनों को देखकर प्रतिनिधि भी भाव-विभोर हो उठे थे।

हिन्दी-संसार को मालूम है कि कानपुर में जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के सभापतित्व में महासम्मेलन का अधिवेशन हुआ था तब पहले द्विवेदीजी से ही सभापति होने के लिए आग्रह किया गया था, किन्तु जूही (कानपुर) में बहुत दिनों तक रहे, बुढ़ापे के कारण उन्होंने यह कहकर अनिच्छा प्रकट कर दी कि मैं आज तक सभापति नहीं हुआ तो अब

अपने ही घर में सभापति बन बैठना मेरे लिए सम्भव नहीं हो सकता। फिर जब चारों ओर से आग्रह का अत्यधिक दबाव पड़ा तब स्वागताध्यक्ष होने को तैयार हो गए। उनका वह स्वागत भाषण पढ़ने ही योग्य है। केवल टण्डनजी की अध्यक्षता के कारण ही वह स्वागताध्यक्ष भी हुए क्योंकि टण्डनजी की निस्पृह सेवा के लिए उनके हृदय में काफ़ी आदर भाव था नहीं तो सम्मेलन से वह सदैव उदासीन और तटस्थ ही बने रहे।

हाँ तो उसी छठे सम्मेलन में चतुर्वेदीजी ने बंगभाषा के 'अनुप्रासेर अट्टहास' नामक झनझनीदार ग्रन्थ की मर्मोक्तियों के जवाब में 'अनुप्रास अन्वेषण' नामक निबन्ध पढ़ा था। चमचमाता हुआ घेरदार जामा कुर्ता चुस्त पाजामा रेशमी अँगरखा बसन्ती साफ़ा सामने की जेब में चेनदार घड़ी चित्रप्रसन्न मुखड़े पर मन्द-मन्द हास्य-रेखा लिये जब चौबेजी मंच की ओर बढ़े तब तालियों की गड़गड़ाहट से पण्डाल गूँज गया। निबन्ध पाठ के बीच-बीच भी हर्षध्वनि होती रही। अधिवेशन-भर तो उल्लास पूर्ण वातावरण बना ही रहा प्रतिनिधि लोग रास्ते में भी उसी की चर्चा करके आनन्द उठाते रहे। अखबारों में भी उसकी चर्चा खूब ही हुई। अतः चौबेजी के पास उसकी माँग भी आने लगी। वह सम्मेलन की लेखमाला में तो छपा ही चौबेजी ने भी उसका पुस्तकाकार में स्वयं प्रकाशित कर दिया। उसकी ललित-मधुर शब्द-योजना और व्यंग्य विनोदपूर्ण छटा देखने ही योग्य है।

उनकी लिखी पुस्तकों की भाषा-शैली में ठौर-ठौर हास्यरस बिन्दु सहृदय पाठकों का आप्यायित करते चलते हैं। उनके उपन्यास नाटक निबन्ध आदि अब दुर्लभ हो रहे हैं। 'अभिनव माधवी' 'संसार-चक्र' 'भूषण' 'विचित्र विचरण' ('गुलिवर्स ट्रैवल्स' का हिन्दी-रूपान्तर) 'गद्यमाला' 'मधुर मिलन' आदि पुस्तकों के नाम भी लोग भूलते जा रहे हैं। अतः उनकी एक सुसम्पादित ग्रन्थावली प्रकाशित होनी चाहिए। उनके स्मारक-ग्रन्थ की पाण्डुलिपि बिहार हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय में बहुत दिनों से पड़ी हुई है। उसी के साथ-साथ यदि उनकी सभी रचनाओं तथा भाषणों को भी प्रकाशित कर दिया जाए तो उनकी

हास्य रसात्मक वाणी का अध्ययन करने में बड़ी सुविधा हो जाएगी। उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन-काल से ही 'भारतमित्र' में जो व्यंग्य-विनोद लिखे थे वे भी साहित्य-भण्डार में संचित होने योग्य हैं।

उनके सुपुत्र पं० रमाकान्त चतुर्वेदीजी कहते थे कि 'भारतमित्र' में छपी सारी सामग्री प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन भवन के सत्यनारायण कुटीर में सुरक्षित है, जिसे राजर्षि टंडनजी ने बड़े आग्रह से मँगाया था। वहाँ से उसकी अविकल प्रतिलिपि मँगाई जा सकती है। बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम वार्षिकोत्सव के सभापति चतुर्वेदीजी ही हुए थे, इस नाते इसी सम्मेलन को ऐसे साहित्यिक यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। कम-से-कम बिहार पर उनका जो ऋण शेष है उससे इसी अनुष्ठान द्वारा उद्धार हो सकता है।

उनकी शायद ही कोई रचना ऐसी हो जो पढ़ते समय निर्विकार हास्य न उत्पन्न करती हो। आप 'भारत की वर्तमान दशा' और 'स्वदेशी आन्दोलन' नामक उनकी पुस्तकें पढ़िए। उनमें भी हास्य के पुट मिलेंगे। व्यंग्य-विनोद उनके सहज-स्वभाव का मुख्य अंग था। बोलचाल में भी वह मर्म की बात कह जाते थे। भाषा-विवाद में भी वह बहुत ताव-तमककर पड़ते थे। अपने पक्ष की प्रौढ़ता के लिए पहले से ही पुष्टिकर प्रमाण संगृहीत कर रखते थे। उनकी युक्तियाँ तर्कसम्मत होती थीं। मज़ाक-पसन्द होने पर भी वह हमेशा इस बात का ख़याल रखते थे कि उसमें कटुता का लवलेश भी प्रवेश न हो। शब्दार्थ-विश्लेषण में भी वह साहित्यिक सौन्दर्य ही प्रदर्शित करते थे, जैसे महामना मालवीयजी के शुभ नाम का अक्षरार्थ इस तरह किया था— 'मल न मोह में' और लाला भगवानदीन का 'भाग्य अथवा न दीन'। उनके इस प्रकार के अर्थ विवेचन पर वे लोग भी हँसे बिना न रहते थे जिनके नाम के टुकड़े से मनोरंजक अर्थ निकाले जाते थे। इसीलिए उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ साहित्य रस के मर्मज्ञों को हृदयग्राहिणी प्रतीत हुई थीं।

जिन राम के अपने साले सत्यनारायणजी को भी 'असत्यनारायणजी' कहकर उन्हें हँसा देते थे। लोगों को हँसाने में ही उनको सुख मिलता

था। किन्तु उनके द्वारा उत्पादित हास्य सर्वथा साहित्यिक शुद्ध और दम्भ द्वेषरहित आनन्द से ही संचालित होता था।

चतुर्वेदीजी कलकत्ता में रहकर चमड़े की दलाली करते थे। अपनी घोड़ागाड़ी (बग्घी) पर मेमर-मार्केट जाते थे। उस समय चूड़ीदार पायजामा, अचकन और गोल पेस्ट कैप उनका पहनावा था। असहयोग आन्दोलन छिड़ा तो स्वदेशी वेशभूषा अपना ली। गांधी-टोपी पर उनकी एक हास्य रसात्मक कविता साप्ताहिक 'मौजी' (कलकत्ता) में छपी थी जिसमें अन्यान्य टोपियों से उसकी श्रेष्ठता और पवित्रता दरसाई गई थी। मारवाड़ी-समाज में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वह बड़े मजे से मारवाड़ी भाषा भी बोलते थे। बंगला बोलने का अभ्यास भी मँज गया था। उन भाषाओं में भी वह शुद्धाशुद्ध का विचार किया करते थे। जो लोग उनके इस विचार से पूर्व-परिचित होते थे वे लोग उनके साथ बातचीत करते समय सावधान रहते थे। अब कौन ऐसा है जो भाषा के स्वरूप को निखारते रहने में प्रतिक्षण सजग होकर अनुरक्त रहेगा!

उनका मझोले कद का गौरवर्ण शरीर सब तरह की पोशाकों में खूब फबता था। उनके सौम्य रूप में उनके मनःप्रसाद से और भी मस्ती झलकती थी। ललाट का चन्दन-तिलक, स्वच्छ सघन दन्तावली, श्वेत यज्ञोपवीत, मनोहर वाणी, सुपुष्ट शरीर आदि उनके स्वस्थ जीवन के दर्पण थे। कलकत्ता-स्थित एक नाटक-मण्डली के रंगमंच पर वह हास्य रस का अभिनय करने लगे तो विविध प्रकार की हँसी और रुलाई के प्रदर्शन से दर्शकों को लोट-पोट कर दिया। अभिनेता के रूप में भी उनका रूप-सौन्दर्य दर्शनीय ही था। उनकी मंजुल मूर्ति आज भी आँखों को रमाती-सी जान पड़ती है।

उनकी पुण्य स्मृतियों के पुञ्ज में से ये कुछ कण हिन्दी-पाठकों को सविनय समर्पित हैं।[१]

---

१. निधन : ६ जनवरी १९६१।
प्रकाशन जनवरी १९६०—साप्ताहिक वाणी (दीपावली विशेषांक) पटना।

कलकत्ता-प्रवास के संस्मरण

१

कविवर 'प्रसाद' जी का एक सुन्दर गीत है—"वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!"

यह पंक्ति याद आते ही मन अनायास कह उठता है—

"न हि सो लिखा गया!

न अब वे दिन बहुरेंगे न वे लोग!"

वे दिन कुछ बहुत सम्पन्नी के नहीं थे पर चोरबाजारी और मक्कारी के भी नहीं थे। ईमान का विमान आसमान में नहीं उड़ा था धरती पर ही था।

वे लोग भी कुछ सतयुगी नहीं थे पर आज-जैसे घोर कलयुगी भी नहीं थे। अपेक्षाकृत उनमें सहृदयता कहीं अधिक थी। पर जैसे ही वे मिलनसार और उदार थे—खासकर बोलचाल और व्यवहार में वैसे ही कुछ लोग उनके अपवाद भी थे—बाहर राम-राम भीतर सिद्ध काम।

उन दिनों की और उन लोगों की तथा कुछ निवासस्थानों के स्थानों की जब कभी स्मृति जाग उठती है कवि 'आलम' का यह सवैया सहज स्मरण हो आता है—

"जा थल कीन्हे बिहार अनेकन
ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करै।
जा रसना सों करी बहु बातन
ता सों विचित्र चरित्र गुन्यो करै।

'मालम' कौन से कूचन में
करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैननि मे जे सदा रहते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

• • •

यूरोप का पहला महायुद्ध समाप्त होने के दो-चार साल बाद ही असहयोग की आँधी आई। आतंक के थप्पड़ का जवाब उत्साह घूँसे से देने लगा। सन् २० की हलचल हरेक हृदय को झकझोरने लगी। देश की उमंग देख दमन भी दंग था!

मैं आरा के टाउन-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। विशेषतः मैट्रिक के छात्रों में बड़ी खलबली थी। हर घड़ी हर तरफ से गुल मचानेवाले नारे और भी सनसनी पैदा करते थे। विद्यार्थियों की निर्भयता और पुलिस की बौखलाहट देखने ही योग्य थी—आश्चर्य तो होता ही था, हँसी भी आती थी।

मैं हाईस्कूल से असहयोग करके नेशनल स्कूल में चला गया। वहाँ जब तक राष्ट्रीय पाठ्य-पुस्तकें न मिलीं, कॉलेज की तरह सिर्फ लेक्चर ही होते रहे। छात्रों में भी लेक्चरबाजी की लत पैदा हो गई। प्रति रविवार को गाँवों में जाने पर वह बड़े जोशीले व्याख्यान दिया करते।

स्कूल के मेरे होनहार छात्रों में एक हरद्वारप्रसाद जालान भी थे। आगे चलकर वह हिन्दी के बड़े उत्साही लेखक हुए। आज जो वह जीते रहते तो नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में उनकी कीर्तिलता लहलहाती रहती। उनका पहला हास्यरसात्मक नाटक 'बरसट रूम' और पहला उपन्यास 'दिल्ली एक्सप्रेस' उन्हीं दिनों छप चुका था। उनको पढ़ाने के लिए जब मैं उनके घर जाता था तब स्कूल की पाठ्य-पुस्तकें अलग रखकर वह केवल साहित्यिक पुस्तकें ही पढ़ा करते थे। साथ ही अपने मारवाड़ी-समाज को सुधारने की चिन्ता और चर्चा भी प्रायः किया करते थे। उनके दो स्वजातीय बन्धु और भी थे—श्री मनरंगलाल झुनझुनवाला और श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार, जो ईश्वर की दया से आज भी हैं। इन्हीं तीन साथियों ने आरा नगर में 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' नामक संस्था

क़ायम की। इसी संस्था का मासिक मुखपत्र हुआ 'मारवाड़ी-सुधार' और मैं बना उसका सम्पादक—नया एसमेन्ट।

• • •

लेखक तो मैं सन् १९१० से ही बन गया था पर सन् १९२१ से सम्पादक भी बन गया। इन ग्यारह वर्षों के लेखक-जीवन में कैसे-कैसे दिन आये और कैसे-कैसे लोग मिले यह भी एक दूसरी लम्बी कहानी है। किन्तु यहाँ केवल कलकत्ता-प्रवास की चर्चा ही अभीष्ट है।

नेशनल स्कूल को आखिरी सलाम कर मैं कलकत्ता पहुँचा। उपर्युक्त श्री दुर्गाप्रसाद पोद्दार वहाँ किसी व्यवसाय सम्बन्ध से हरिसन रोड के एक मकान में रहते थे। मैं उन्हीं के साथ रहने लगा। पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा ने पत्र के छपने के लिए एक प्रेस ठीक किया।

शर्माजी मेरे साहित्यिक गुरु थे। तात्कालिक कलकत्ता के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशक श्री रामलाल वर्मा के वर्मन प्रेस में काम करते थे। किन्तु 'मारवाड़ी-सुधार' की छपाई के लिए उन्होंने 'बालकृष्ण प्रेस' से सब-कुछ पहले ही तय कर लिया था। उस प्रेस के मालिक बाबू महादेवप्रसाद सेठ से उन्हीं की मारफ़त जान-पहचान हुई। सेठजी के साथी मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव से भी वहीं परिचय हो गया। प्रेस का मकान (२१ शंकर घोष लेन) विद्यासागर कॉलेज के पिछवाड़े खुली जगह में था। नीचे के हिस्से में प्रेस था और ऊपर के तल्ले में रामकृष्ण-मिशन के कुछ कर्मयोगियों का निवास। उन्हीं संन्यासियों के साथ कविवर 'निराला' भी रहा करते थे। मैं प्रेस में रोज़ ही जाता था पर सेठजी और मुन्शीजी के सिवा 'निराला' जी से परिचित न हुआ।

जिस दिन मैं पत्र की पाठ्य-सामग्री का सम्पादन करके पहले-पहल प्रेस में ले गया उस दिन सेठजी और मुंशीजी ने बड़े उत्साहवर्द्धक वाक्य कहे। पहले तो उन लोगों को सहसा विश्वास ही न हुआ कि छपनेवाली रचनाओं का संशोधन-सम्पादन स्वयं मैंने ही किया है। सेठजी तो बार-बार उपर्युक्त शर्माजी का नाम लेने लगे। शर्माजी का तो मैं चेला ही था। उन्होंने अपने सम्पादित मासिक 'मनोरंजन' के प्रकाशन-काल (सन् १९१०-१२) में भी मेरी सारी रचनाओं को [illegible] था। मेरे

अक्सर भी उनके अखाड़ों से मिलते-जुलते थे। सन्देह के कारणों में एक यह भी था।

सेठजी ने प्रेस में ही रहने के लिए अनुरोध किया। मुंशीजी ने कुछ लाभ-लोभ भी दिखाया। पर मिश्रवर पाण्डेयजी के आग्रह के आगे मेरी एक न चली। किन्तु सेठजी और मुंशीजी ने उन्हें राजी कर लिया। तब भी हरिसन रोड से प्रेस चले आने में लगभग तीन-चार महीने लग गए। प्रेस में रहने लगने पर दोनों सज्जनों का वात्सल्य दिन-दिन बढ़ता गया। इसी बीच एक दिन श्री निरालाजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मुंशीजी की विनोदप्रियता का रस सेठजी खूब लेते थे। केदार महाराज रसोइया प्रायः दोनों जून सेठजी के लिए भंग का गोला तैयार कर देते थे। रसोई में उनका हाथ बड़ा साफ था। मिर्जापुरी तो वे ही भंग बनाने में भी बहुत सधा हाथ था। जब गोला जमाकर सेठजी कुर्सी पर बैठ तम्बाकू के कश खींचने लगते तब उनकी गम्भीर मुद्रा दर्शनीय होती। बोलते बहुत कम और हंसी की बात पर भी मुस्कराकर ही रह जाते। लेकिन जिस दिन भंग के रंग में बोलने और हंसने लग जाते उस दिन सचमुच तरंग नाच झूमती।

श्री निरालाजी ऊपर के तल्ले से प्रायः कम ही नीचे उतरते। अगर बाहर निकलते भी तो चुपचाप अपनी राह चले जाते दाएँ-बाएँ देखने तक नहीं। नंगे पैर, तलहथी पर सुरती मसलते हुए, ट्राम की सड़क (कार्नवालिस स्ट्रीट) तक निकल जाते। कभी-कभी उसी दशा में टन ठनिया और मछुआ-बाजार तक बढ़ जाते मानो चिन्तनशीलता की धारा में स्नान करते जा रहे हों। भीमाकायमान शान्त मुखाकृति कभी-कभी मन्दस्मित से विकसित हो उठती क्षण-भर मुखड़ा प्रसन्न दीखता फिर गम्भीर-धीर प्रशान्त।

जब मैं प्रेस में नहीं रहता था तब भी निरालाजी पर निगाह पड़ी थी मगर अटकी नहीं थी। मेरी अभागी आँखें अनुमान करती थीं कोई ढोले-मुरुन्डे का आदमी होगा। प्रायः प्रेस में आते जाते रहने पर भी उनसे कभी साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। एक तो वह

अनावश्यक किसी के पास बैठकर गपशप में समय बिताते नहीं थे। दूसरे मैं भी थोड़ी ही देर के लिए प्रेस में आता था—वह भी ऐसे समय जब हँसमुख-भोला सेठजी ही अकेले रहते थे, मुंशीजी अपने काम पर चले जाते थे—भूतनाथ-कार्यालय की मैनेजरी करने। वह कारखाना मछुआ बाजार में तेल-साबुन-सेंट का था। उसके मालिक थे पन्ना-सिटी के सेठ गिरधारीलाल चौधरी। उनके कारखाने और परिवार में मुंशीजी की बड़ी मान और धाक थी। उनके भतीजे बाबू कमला प्रसाद चौधरी बड़े उत्साही हिन्दी-प्रेमी थे। कमला बाबू का जिक्र आगे आएगा।

जब मैं प्रेस में रहने लगा, सेठजी और मुंशीजी से निरालाजी का नाम मालूम हुआ। मुझे ऐसा भान हुआ कि अभी ये दोनों सज्जन भी उनसे भली भाँति परिचित नहीं हैं। कलकत्ता में वह कुछ ही दिन पहले आये थे।

रामकृष्ण-मिशन के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी माधवानन्दजी एक ऐसे हिन्दी-लेखक की खोज में निकले थे जो बँगला से हिन्दी में अच्छा अनुवाद कर सकता हो, संस्कृत और अँगरेजी का अच्छा जानकार हो और दार्शनिक मनोवृत्ति का भी हो। आचार्य द्विवेदीजी से उन्हें निरालाजी का पता मिला। माधवानन्दजी स्वयं कहा करते थे—"द्विवेदीजी की कृपा से यह बहुमूल्य रत्न हमारे हाथ लग गया। वस्तुतः आचार्य का परखा हुआ हीरा है।"

स्वामीजी बड़े आदर से निरालाजी को साथ रखते थे। मिशन के सभी संन्यासी उनकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे। उनकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं थी। वास्तव में बंगाली विद्वान् ही साहित्यकार और कलाकार का उचित सम्मान करना जानते हैं। मिशन के संन्यासी सदा 'पंडितजी' कहकर उनकी प्रतिष्ठा करते और उनका रुख देखते रहते। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी तो उन्हें 'हिन्दी का रवीन्द्र' कहते नहीं हिचकते थे। वीतराग संन्यासी होने पर भी एक बंगाली विद्वान् के मुख से ऐसी बात सुन लेना आसान नहीं था। उन्हें विलक्षण और दार्शनिक तो सभी कहते थे। उन लोगों की दृष्टि में उस समय

हिन्दी-संसार में उनकी उम्र का दूसरा कोई बहुश्रुत विद्वान् नहीं था। उन्हें पाकर वे लोग गर्व करते थे।

सेठजी और मुंशीजी भी उन गुणग्राही संन्यासियों से निरालाजी की प्रशंसा सुनकर ही उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। जिस दिन दुतल्ले से उतरकर बाहर जाते हुए निरालाजी को अपने कमरे में बुलाकर मुंशीजी ने मुझसे परिचय कराया उस दिन सेठजी ने जो भविष्यवाणी की थी वह हिन्दी-संसार में आज सत्य सिद्ध हो चुकी है, उसे दुहराने की जरूरत नहीं है। सेठजी कुछ कम गुणग्राही न थे। प्रतिभा का वैसा अनन्य पुजारी मैंने फिर कहीं नहीं देखा। जिसकी कला परख लेते उसके अनन्यभक्त बन जाते। आगे चलकर इसके प्रमाण मिलेंगे।

मुंशीजी तो सदाप्रसन्न आदमी थे। बात-बात में उन्हें ठकठोरई सूझती थी। निरालाजी के सम्बन्ध में उनकी कितनी ही निराली उक्तियाँ बड़े मार्के की होती थीं। प्रथम परिचय के दिन वह कहने लगे—'एक तो महाकवि बिहारीलाल की नायिका भौंहों में हँसती थी, दूसरे हमारे निरालाजी मौंछों में हँसा करते हैं, बल्कि यह तो बिहारी की नायिका के भी कान कतर चुके हैं—इनकी पलकें हँसती हैं, बरौनियाँ हँसती हैं, आँखों के कोए हँसते हैं। बस इनकी नाक हँसती है।'

अब मुंशीजी और सेठजी प्रायः निरालाजी के सत्संग का आनन्द लेने लगे। धीरे-धीरे उनका मौन भंग होने लगा। चर्चा केवल साहित्यिक ही होती थी। सेठजी छेड़कर रसानुभव करने लगते, मुंशीजी की सरस उक्तियाँ उत्तेजना भरती चलतीं। उस बातचीत में निरालाजी के क्रान्तिकारी विचारों का परिचय मिलने लगा।

सेठजी का बालकृष्ण-प्रेस भारतेन्दु-युग के साहित्य-महारथी पं० बालकृष्ण भट्ट की स्मृति में स्थापित हुआ था। उसमें अधिकतर भूतनाथ कार्यालय का ही काम हुआ करता था। मुंशीजी भी जितना सेठजी के लिए [illegible] थी। सेठजी उनको अपना बड़ा भाई मानते थे—उनकी बहुतेरी बातें चुपचाप बर्दाश्त कर लिया करते थे। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि वह भाईचारा अन्त तक निभ न सका। इसका रहस्य न सुनें तो अच्छा![1]

1 प्रयाग। मई, १९५०—मासिक 'नई धारा' पटना।

२

बालकृष्ण प्रेस में सेठजी और मुंशीजी के पास कुछ साहित्यिक सज्जन बराबर आया करते थे जिनमें मुख्य थे—पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा पंडित जगद्धेश्वर पाठक पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री बाबू बजरंगप्रसाद खरे और बाबू कमलाप्रसाद चौधरी। चौधरीजी साहित्यसेवी नहीं थे पर साहित्यानुरागी और बंगलासेवी बड़े पक्के थे। उनका कहना था कि बंगला और हिन्दी का कोई ऐसा पुराना या नया उपन्यास अथवा कहानी संग्रह नहीं है जिसको इन्होंने न पढ़ा हो। इनकी कहानियों का एक संग्रह मुंशीजी ने प्रकाशित कराया था जिसका नाम इस समय याद नहीं। उसकी पाण्डुलिपि मुंशीजी ने छापी थी। बंगला और हिन्दी के कथा साहित्य को इन्होंने हजारों रुपए दिये होंगे। ऐसे धनी आज भी कुछ होंगे ही।

शर्माजी बाबू रामलाल वर्मा के यहाँ पूरी स्वतन्त्रता के साथ नौकरी करते थे। उनको वर्माजी नौकर नहीं साहित्यिक मित्र समझते थे अपने सबसे छोटे भाई मुकुन्दलालजी से भी अधिक प्यार करते थे। ऐसा सम्बन्ध व्यावसायिक सम्बन्ध में नहीं देखा। शर्माजी परम स्वच्छन्द और स्वाभिमानी व्यक्ति थे। उनका मौजमस्ती विनम्रता और वर्माजी का बड़ी मिलन से उनको सम्मान मिल गया था। शर्माजी बड़े हँसमुख मिलनसार और मिठबोलिया थे। साहित्यिकों की बड़ी कद्र करते थे। जैसा उनका रूप सुन्दर था वैसा ही हृदय भी। उस समय के कलकत्तिया पुस्तक-प्रकाशकों में उनके समान साहसी और उदारचेता दूसरा न था। उनके यहाँ शर्माजी के सिवा पंडित कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय और पंडित मरो नम स्याम भी साहित्य-रचना करते थे। उनके लिए सिकेन्दिया और मुंशीजी भी उनके लिए पुस्तकें लिखा करते थे जिन्हें वे बड़ी सजधज से प्रकाशित करते थे। पुस्तकों की छपाई और बाहरी जिल्द सजावट का उन्हें बड़ा शौक था। पुस्तकों के बनाव शृङ्गार में बहुत रुपये पैसे खर्च करते थे। साहित्यिकों को पुरस्कार में अधिक मानते मुँह-माँगा-मधुर पान। ये मन दिया करते थे। पैसे के लिए साहित्यिक का अपमान होने देना उन्हें पसन्द न था। जिल्दें बनवाते कुछ कम पसे ही हैं पर

तिरस्कार किसी का कभी न किया। त्रिवेदीजी से उन्होंने 'विष्णुपुराण' का गद्यानुवाद कराया। उसके पारिश्रमिक मुद्रण चित्रालंकरणादि में लगभग दस हजार रुपये उस समय खर्च हुए थे। ग्रन्थ पूरा छपकर तैयार हो गया था। त्रिवेदीजी ने बहुत दिनों तक घोर परिश्रम किया था। किन्तु वह ग्रन्थ अप्रकाशित ही रह गया। त्रिवेदीजी के अनवरत अनुशीलन और शर्माजी की द्रव्य-राशि से हिन्दी-साहित्य को जो लाभ पहुँचता उससे वह वंचित रह गया। वह हजारपन्ने की पोथी मिट्टी मोल में बिक गई!

शर्माजी की आदत थी कि प्रेस में पहुँचते ही मुंशीजी और सेठजी से पान और रसगुल्ले की फर्माइश कर देते थे। उनके आ जाने पर कोई काम नहीं किया जा सकता था। काम करने ही न देते थे। स्वयं तो वे कुछ ही देर, मगर उतने ही समय में कागज-कलम-दवात किताब इधर उधर रख देते थे। बस गपशप और हँसी-ठहाके के लिए ही वह आ जाते थे। उनकी सूरत देखते ही सेठजी हँसकर कहते— 'बस अब काम हो चुका!' मुंशीजी से वह बराबर सुगन्धित तेल और साबुन मुफ्त वसूल किया करते। मगर सुप्रसिद्ध 'भृंगराज तेल' की शीशियाँ खाली हो जाने पर लौटा देते थे। एक बार मुंशीजी ने उनसे कहा कि हमारे कारखाने में शीशियों की कमी नहीं है, इन्हें बेचकर पैसे क्यों नहीं उठा लेते? इस पर उन्होंने छूटते ही कहा— 'मैं तेलिया ब्राह्मण नहीं हूँ!'

सेठजी इतिहास के बड़े प्रेमी थे। इतिहास का जो कोई नया ग्रन्थ निगाह में आ जाता, झट खरीद लेते। अंग्रेजी बुकसेलरों के यहाँ उनका स्थायी आर्डर पड़ा रहता था। नया ग्रन्थ बाजार में आते ही उन्हें सूचना मिल जाती थी। उनका इतिहास-सम्बन्धी ज्ञान भी बहुत गम्भीर था। उन्होंने एक इतिहास-ग्रन्थ लिखना शुरू किया था, परन्तु दो-चार ही परिच्छेद लिखकर रह गए। प्रेस के काम में खटने खूब थे, मगर लिखने में आलसी थे। स्वाध्याय मात्र उनका व्यसन था। इतिहास पर बातें करने लगते थे तो बड़ा आनन्द आता था। उनके लिखे अध्यायों को मैंने देखा था। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी ने दक्षिण अफ्रीका से अपनी लिखी एक ऐतिहासिक पुस्तक मुझे देखने के लिए भेजी थी। वह सन् सत्तावन के गदर पर थी। उसे अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने लिखा था। उसमें बड़े

मार्क के उद्धरण भी थे। सेठजी ने उसको देखकर कहा कि इसमें बहुत-सी असंगतियाँ और अपमानजनक बातें हैं। कई स्थलों की त्रुटियों का उन्होंने सुधार कर दिया। स्वामीजी जब एक शिष्ट-मण्डल में भारत आये तब उन्होंने कलकत्ता पहुँच सेठजी के सत्परामर्श के लिए बड़ा आभार और उपकार माना।

शर्माजी और पाठकजी प्रायः सेठजी से अपनी के इतिहास-ग्रन्थ पढ़ने के लिए ले जाते थे। पाठकजी से चौगुनी अधिक पुस्तकें शर्माजी पढ़ जाते थे। जैसे वह लिखने में तेज थे वैसे पढ़ने में भी। न जाने कैसे कोई किताब देखते-देखते पढ़कर समाप्त कर देते थे। उनके एक मारवाड़ी मित्र बाबू महादेवप्रसाद झुनझुनवाला थे। इनकी पुस्तकों की एक दूकान बड़तल्ला मुहल्ले में थी—भारत पुस्तक भण्डार। शर्माजी की बैठकबाजी वहाँ भी हुआ करती थी। कलकत्ता में इसके कई साहित्यिक ग्राहक थे। उस दूकान से भी वह पढ़ने के लिए नई-नई पुस्तकें ले जाते थे। मुंशीजी मजाक में उन्हें 'दीमकराम' कहते थे क्योंकि वह चाहें तो रात भर में बड़ी-से-बड़ी पुस्तक के भी आर-पार हो जाएँ। उनका दिमाग बिलकुल फौलाद या पत्थर का, और लगन भी उन्होंने गणेशजी की पाई थी। बेनीपुरीजी उन्हें 'मेरी कारेली' का 'थेल्मा' उपन्यास अनुवाद करने के लिए दे आए। पहले तो वह कुछ दिनों तक बहाने बनाते रहे, पर जब धुन सवार हुई तो चन्द दिनों में ही अनुवाद तैयार कर रख दिया। तारीफ यह कि भाषा में कहीं पर कमजोर नहीं। मगर उनकी पढ़ाई और पाठकजी की पढ़ाई में अन्तर था। वह सिर्फ पढ़ते ही थे पाठकजी बड़े संग्रही थे। वह खास-खास अवतरणों को नोट करते जाते थे। उनकी एक नोटबुक शर्माजी के पास मैंने देखी थी जिसमें उपन्यास लिखने योग्य ऐतिहासिक घटनाओं के सुन्दर अवतरण थे।

शर्माजी तो काशी निवासी थे, पर पाठकजी बिहारशरीफ (जिला पटना) के मगही ब्राह्मण थे। वह भाँग बूटी का शौक रखते थे और दण्ड-कसरत के बड़े शौकीन थे। सागरिका पाथ स्ट्रीट में इनका अपना प्रकाशन-संस्थान था। मेरी लिखी 'भीष्म' और 'अर्जुन' की जीवनियाँ इन्होंने प्रकाशित की थीं। पंडित जनार्दन भट्ट और पंडित दयाराम

जाना पड़ा। किन्तु भंग की तरंग में नाट्य-शाला में ही ऐसी हँसी उमड़ी कि मुंशीजी उन्हें नशे की दशा में अकेला न छोड़ सके, प्रेस तक साथ गये। हँसी उमड़ी खरेजी को नारी-वेष में देखते ही। प्रौढ़ावस्था में पुरुष कण्ठ कर्कश हो ही जाता है। पुरुष अपनी उठती जवानी में ही स्त्री का पार्ट अच्छा कर सकता है। स्त्री का वेष रूपवान नवयुवक को ही फबता है। उपयुक्त वेशभूषा की स्वर-माधुरी में रंचमात्र भी अस्वाभाविकता का आभास नहीं मिलता था। उन दिनों पारसी और बंगला थियेटरों में स्वयं स्त्रियाँ ही अभिनेत्री होती थीं, इसलिए लोगों के कान भी प्रौढ़ कण्ठ का स्वर सुनने को अभ्यस्त नहीं थे। खरेजी मंच पर ज्यों-ज्यों बोलते सेठजी की हँसी का पारा चढ़ता जाता। मुंशीजी को आखिर लाचार होकर उन्हें नाट्य-मन्दिर से बाहर ले जाकर प्रेस पहुँचाना पड़ा। खरेजी को यह बात मालूम न होने पाई, बल्कि दूसरे दिन प्रेस में उनके आने पर सेठजी ने उनके अभिनय की बड़ी प्रशंसा की, जिसे सुनकर मुंशीजी की हँसी न रुकी तो वह अन्यत्र हट गए और मैं भी वहाँ से टल गया।

हिन्दी के नाटकों की उस समय बड़ी धूम थी। लोगों में अदम्य उत्साह था। अभिनय में काफी भीड़ होती थी। कितने ही नवयुवकों को नाट्यकला-निपुण देखकर आशा की जाती थी कि हिन्दी का रंगमंच कुछ दिनों में बहुत उन्नत हो जाएगा। पारसी थियेटरों में भी हिन्दी के सुन्दर नाटकों के अभिनय होने लगे थे। इसकी चर्चा आगे होगी। बड़ा बाजार में नाटकों से काफी हलचल रहती थी। एक बार हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी भी रंगमंच पर उतरे थे। उन्होंने चौबे का पार्ट किया था। उनकी नाना प्रकार की रुलाई ने हँसाते-हँसाते लोगों को बेदम कर दिया। कविवर निरालाजी को भी रंगमंच पर आने की चाह हुई थी पर उनको लोग राजी न कर सके। वह बहुत अच्छे अभिनेता हैं। सेठजी के कमरे में कई बार उन्होंने अभिनय की भावभंगी के साथ अपनी 'पंचवटी' कविता सुनाई थी। बंगला के अभिनय भी दिखलाए थे। उनकी भावभंगिमा देख मुग्ध होकर एक दिन पाठकजी ने कहा था—'आर्यों के शरीर की गठन का जैसा वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है वैसा ही निरालाजी का तगड़ा और पुष्ट बदन है। इनकी आँखें और

भंगिमाएँ देखकर अजन्ता-गुहा के चित्र याद आ जाते हैं। जान पड़ता है कि अजन्ता की कोई प्रस्तर प्रतिमा सजीव होकर हिन्दी-जगत् में चली आई है। इनका मुख-विवर और चिबुक ठीक आर्यों के समान है। आप शान्ति के पैगम्बर की तरह वेषा भी इन्होंने पाई है।" इसके कई मास बाद मैंने कलकत्ता में ही फिर निरालाजी को देखा। कविवर रत्नाकरजी के सभा-पतित्व में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन वहाँ विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में हुआ था। उसके सामने वेलिंगटन पार्क में निरालाजी ने कुर्ता उतारकर अपनी मांसपेशियाँ दिखलाईं। उस समय उनका शरीर पहले से कहीं अधिक स्वस्थ और सुडौल था। काली-काली मूँछें भी थीं। उनके बदन की तैयारी पर पाठकजी की बातें एकाएक याद हो आईं।[1]

३

कलकत्ता-प्रवास का मूल कारण था 'मारवाड़ी-सुधार' का सम्पादन और प्रकाशन। 'मतवाला'-सम्पादक बाबू महादेवप्रसाद सेठ के बालकृष्ण प्रेस में 'मारवाड़ी-सुधार' को छपवाता था और कलकत्ता निवासी मारवाड़ी सज्जनों से लेख-संग्रह भी करता था। श्री गंगाप्रसाद भोतिका एम० ए०, श्री तुलसीराम सरावगी, श्री बसन्तलाल मुरारका, श्री रामदेव चोखानी, श्री पद्मराज जैन, श्री रंगलाल जाजोदिया, श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री मोतीलाल लाठ, श्री रामकुमार गोयनका, श्री रामचन्द्र सेमका, श्री ईश्वरदास जालान, श्री काशीप्रसाद खेतान, श्री बैजनाथ केडिया, श्री दीनानाथ सिंगानिया आदि उस समय मारवाड़ी-समाज के सुपरिचित लेखक और सुधारक तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। भोतिकाजी, सरावगीजी, मुरारकाजी और चोखानीजी सामाजिक और सार्वजनिक हित के कामों में बहुत भाग लेते थे। इनमें प्रमुख अगुआ श्री पद्मराजजी जैन थे। वह बड़े ओजस्वी वक्ता थे। आज वह इस संसार में नहीं हैं। उन्होंने 'मारवाड़ी-सुधार' में समाज-सुधार सम्बन्धी कई लेख लिखे थे। उपर्युक्त प्रायः सभी सज्जनों

[1] सरस्वती, जून १९३०—[illegible]

के लेख 'मारवाड़ी-सुधार' में छपे थे। श्री दुर्गाप्रसाद खेतान, श्री काली प्रसाद खेतान और उनके सबसे बड़े भाई श्री देवीप्रसाद खेतान 'मारवाड़ी सुधार' के प्रमुख सहायकों में थे।

उन्हीं दिनों स्वनामधन्य देशभक्त सेठ जमुनालाल बजाज की प्रेरणा और उदारता से अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा की स्थापना हुई थी। श्री पद्मराजजी, रायबहादुर जोखीरामजी, सरावगीजी, मुरारकाजी, मोतीलालजी केडियाजी, झालानजी और खेतान-बन्धु उसके प्रमुख स्तम्भ, संचालक और उत्साही कार्यकर्ता थे। 'मारवाड़ी-सुधार' के सम्पादक के नाते उसके महाधिवेशनों में मैं भी जाता था। जब महासभा ने अपना स्वतन्त्र मासिक मुखपत्र 'मारवाड़ी-अग्रवाल' प्रकाशित करने का निश्चय किया तब लगातार दो-ढाई साल के प्रकाशन के बाद 'मारवाड़ी सुधार' बन्द कर देना पड़ा। 'मारवाड़ी-अग्रवाल' के सम्पादक हुए श्री हेमचन्द्रजी जोशी। जोशीजी से मैं उसी समय पहले-पहले परिचित हुआ। 'मारवाड़ी-अग्रवाल' में कई लेख मेरे भी निकले।

'मारवाड़ी-सुधार' के लेखकों में श्री ईश्वरदासजी जालान बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर के निवासी हैं। उन दिनों वह हरिसन रोड और चितपुर रोड की चौमुहानी पर पुरानी कटरा में रहते थे। आजकल वह पश्चिमी बंगाल असेम्बली के स्पीकर हैं। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में भी उनका लेख छपा था। श्री कालीप्रसाद खेतान बैरिस्टर का लेख भी द्विवेदीजी की 'सरस्वती' में छपा था। जब वह बैरिस्टरी पास कर स्वदेश लौटे थे तब आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी 'सरस्वती' में उनका सचित्र परिचय भी प्रकाशित किया था। श्री रामकुमारजी भुवालका भी उन्हीं दिनों अमरिका से लौटे थे। श्री मोतीलाल लाठ ने पहले-पहल उनसे मेरा परिचय कराया। श्री ब्रजनाथ बड़िया उस समय हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से सम्बद्ध थे। कुछ ही दिनों बाद हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से 'साहित्य' नामक मासिक पत्र निकला था। उसके सम्पादक थे पं० छविनाथ पाण्डेय जो आज बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हैं। मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट के पास सरकार लेन में केडियाजी का वणिक प्रेस था। उससे उन्होंने कुछ मास बाद 'विजय' नामक सचित्र साप्ताहिक निकाला था जिसके सम्पादक थे श्री

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय जो छपरा (बिहार) के निवासी थे और अब इस संसार में नहीं हैं। उसी वणिक प्रेस से दो-तीन साल बाद मेरे सम्पादकत्व में 'उपन्यास तरंग' नामक सचित्र मासिक-पत्र निकला था। मेरे सहकारी श्री रमेशचन्द्र त्रिपाठी का भी नाम उस पर छपता था। वह बड़े अच्छे होनहार नवयुवक थे और कानपुर की तरफ के रहनेवाले थे। अन्त में वह संन्यासी हो गए। वणिक प्रेस में ही लहेरियासराय (दरभंगा) के 'बालक' का पहला अंक छपा था। दूसरे अंक से वह काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस में छपने लगा। उसी के सिलसिले में मुझे कलकत्ता छोड़ काशी जाना पड़ा। कलकत्ता में मेरे रहते समय श्री दीनानाथ सिकंदिया ने मेरे सम्पादकत्व में 'आदर्श' नामक सचित्र मासिक पत्र निकाला था। सिकंदियाजी साहित्यानुरागी तो थे पर उनके पास पूँजी नहीं थी। जोश में आकर 'आदर्श' निकाला पर लगभग एक साल ही चला सके। उन्होंने 'गोलमाल' नामक हास्यरस का एक साप्ताहिक-पत्र भी निकाला था जिसका प्रकाशन कुछ दिनों तक पटना सिटी से उन्हीं की देख-रेख में हुआ था।

'मारवाड़ी-सुधार' के बन्द होने पर बालकृष्ण प्रेस के मालिक महादेवप्रसाद सेठ ने मुझसे अपने प्रेस में ही रहने का अनुरोध किया। उनका और मुंशी नवजादिकलालजी श्रीवास्तव का आग्रह हुआ कि हास्यरस का एक सुन्दर साप्ताहिक पत्र निकाला जाए। यह प्रेरणा बंगला के एक हास्यरसात्मक साप्ताहिक 'अवतार' से मिली। मुंशीजी बंगला के अखबार रोज पढ़ा करते थे। 'अवतार' के अंक भी प्राय बराबर आते और पढ़े सुनाते। उसके धार्मिक-व्यंग्य-विनोदों से हम लोग प्रभावित हुए। तब निश्चय किया गया कि 'मतवाला' नामक साप्ताहिक पत्र अवश्य ही निकाला जाए। पंडित ईश्वरीप्रसादजी शर्मा ने इस बात पर बहुत जोर दिया।

वे बराबर हास्यरस की व्यंग्यमय रचनाएँ 'मतवाला' को देते थे। आरम्भ में निर्णय हुआ कि मुखपृष्ठ के लिए निरालाजी प्रति सप्ताह अपनी कविता देंगे, मैं अग्रलेख (सम्पादकीय) और 'चलती चक्की' नामक स्तम्भ के लिए विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ भी लिखा करूँ। मुंशीजी

'मतवाला की बहक' नामक स्तम्भ के लिए व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ लिखा करेंगे। समालोचनाएँ भी निरालाजी ही लिखेंगे। अन्य सारी सामग्री का सम्पादन और पूरे पत्र का प्रूफ-शोधन मुझे करना पड़ेगा। सम्पादक के रूप में सेठजी का नाम छपेगा। इसी निर्णय के अनुसार सन् १९२३ के सावन में 'मतवाला' निकला। मुंशीजी उस समय के प्रसिद्ध भूतनाथ प्रेस के कारखाने में मैनेजर थे। इसलिए 'मतवाला' के आखिरी पूरे पृष्ठ का विज्ञापन तत्काल मिल गया। पहला अंक निकलते ही ऐसी धूम मची और इतनी माँग बढ़ी कि अधिक-से-अधिक संख्या में छापने से प्रेस असमर्थ हो गया।

'मतवाला' का प्रचार दिन-दिन बढ़ता गया। प्रेस की व्यवस्था स्वयं सेठजी करते थे और 'मतवाला' का प्रबन्ध-विभाग मुंशीजी के हाथ में था। जब 'मतवाला' का प्रबन्ध-सम्बन्धी काम बहुत बढ़ गया तब मुंशीजी 'मतवाला की बहक' लिखने के लिए समय नहीं निकाल पाते थे। विवश होकर उन्हें भूतनाथ कार्यालय की मैनेजरी भी छोड़नी पड़ी। तब भी उन्हें कुछ लिखने का अवकाश नहीं मिल पाता था। इस तरह 'बहक' का बोझ भी मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मुंशीजी कभी-कभी यथावकाश कुछ लिख दिया करते। वह और सेठजी जब अखबार पढ़ने का अवसर पाते तब उसमें निशान लगाकर मेरे पास उस पर टिप्पणी जड़ने के लिए भेज देते। 'मतवाला' कार्यालय की तीसरी मंजिल एक छोटा-सा एकान्त कमरा था। रात में सेठजी उसमें सोया करते थे और दिन भर मैं उसमें 'मतवाला' का मैटर तैयार किया करता था। शाम को रोज़ बनारसी बूटी छनती थी। भंग छानने के बाद कुछ घंटे हम लोगों की सम्मिलित बैठक होती थी। उसमें अखबार की खबरों पर विचार-विनिमय होता था। देश, समाज, धर्म और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण समाचारों और ज्वलन्त राजनीतिक समस्याओं पर चुस्त-चुटीली टिप्पणियाँ लिखने के लिए निश्चय किया जाता था। भंग की तरंग में सेठजी की सूझ-बूझ बड़ी निराली होती थी। मुंशीजी भी स्वाभाविक हास्य विनोद लिखने में बड़े सिद्धहस्त थे। निरालाजी की कविताओं ने भी 'मतवाला' की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ाई। उन्होंने सरस्वती के अंकों

की जो समालोचना लगातार लिखी—'पद्मसिंह शर्मा' के नाम से उसे पढ़कर आचार्य द्विवेदीजी इतने क्षुब्ध हुए कि 'मतवाला' के एक अंक को आदि से अन्त तक अच्छी तरह संशोधित करके भेज दिया। उस समय द्विवेदीजी नहीं बल्कि बख्शीजी 'सरस्वती' के सम्पादक थे। फिर भी 'सरस्वती' पर द्विवेदीजी की इतनी ममता थी कि वह 'सरस्वती' की समालोचना बर्दाश्त न कर सके।

'मतवाला' में छपने के लिए बहुत-से लोग हास्य-विनोदमयी रचनाएँ प्रायः भेजा करते थे। उनमें से काम की रचनाएँ चुनकर मैं सुधार-सँवार देता था। ऐसी रचनाओं के लिए 'रंगरूटों की फौज' नामक स्तम्भ बनाया गया था। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक जगत् की जो हवाई खबरें और अफवाहें होती थीं उन्हें कलमबन्द करने के लिए 'चण्डूखाने की गप' नामक स्तम्भ कायम किया गया था। उनसे पाठकों का इतना अधिक मनोरंजन होता था कि देश के अनेक भागों से लोग अपने यहाँ की उड़ती खबरें और दिलचस्प अफवाहें लिख-लिखकर भेजा करते थे। 'रंगरूटों की फौज' में भी प्रति सप्ताह नये सैनिकों का रंग खूब जमा। अपनी भेजी हुई खबरों और चुटकियों पर 'मतवाला' की रंगसाजी देखकर लोग बड़े विनोदपूर्ण ढंग से बधाइयाँ भेजा करते थे। हिन्दी-संसार के पत्र-पाठकों में 'मतवाला' ने एक नई उमंग की लहर पैदा कर दी थी। हास्यरस की ओर लोगों का झुकाव दिन-दिन होता जाता था। नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अन्दर ही वह दस हजार की संख्या में छपने लगा। केवल बनारस में ही एजेन्ट की मार्फत दो हजार प्रतियाँ खपती थीं। कलकत्ता में उसकी इतनी धाक थी कि जिस विषय पर वह लिखना शुरू करता था उस विषय के क्षेत्र में हलचल मच जाती थी। हिन्दू महासभा के विरोधी सनातनी सज्जनों का भण्डाफोड़ करने में उसने ऐसी निर्भीकता से काम लिया कि सनातनी भाइयों को धर्म-रक्षिणी सभा कायम करके 'धर्म-रक्षक' साप्ताहिक निकालना पड़ा। पारसी थियेटर कम्पनियों को भी उसने खूब निडर होकर रगड़ा, जिससे आजिज होकर 'मतवाला-मण्डल' में दर्जनों 'पास' मुफ्त आने लगे। किन्तु हम लोगों ने कभी मुफ्त तमाशा नहीं देखा। बराबर 'मतवाला' के पैसों

से देखा और खूब छककर लिखा। फिर तो ऐसा तहलका मचा कि पारसी कम्पनी के नाटक-लेखक 'मतवाला-मण्डल' में स्वयं पधारकर पनाह माँगने लगे। यह कहानी अगले अंश में आएगी।[1]

४

'मतवाला' में पारसी थिएटरों पर जो आलोचनात्मक लेख और अग्रलेख निकलते थे तथा व्यंग्य-विनोद छपते थे उनसे थिएटर के संचालकों और उनके लेखकों में बड़ी खलबली मची। थिएटरों के मालिक उस समय मदन थिएटर्स वाले थे। अल्फ्रेड थिएटर हैरिसन रोड पर था और कोरिंथियन थिएटर धर्मतल्ला के पास था। दोनों के तमाशों पर तीव्र और कटु टीका-टिप्पणी देखकर थिएटर कम्पनी वाले इतने बौखलाए कि 'पास' का लोभ दिखाकर 'मतवाला' को लुभाने का प्रयत्न करने लगे। वे अपने नाटककारों को भी मतवाला-मण्डल में भेजकर सिफ़ारिश कराने लगे। मुंशीजी कुछ दूर तक चपेट में आ गए थे। पर सेठजी सिद्धान्त के बड़े पक्के थे, जाल में न फँसे। उन दिनों मदन थिएट्रिकल कम्पनी के नाटक-लेखकों में पं० नारायणप्रसाद 'बेताब', बाबू हरिकृष्ण 'जौहर', पं० तुलसीदत्त 'शैदा', आगा हश्र काश्मीरी आदि बड़े प्रसिद्ध थे। इन लोगों से मुंशीजी की पुरानी जान-पहचान थी। 'बेताब' जी का 'कृष्ण सुदामा' नाटक पारसी थिएटर के रंगमंच पर महीनों लगातार चला था। उसमें मगनलाल नामक एक सुन्दर गायक अभिनेता श्रीकृष्ण की भूमिका में उतरते थे और पुरुषोत्तम नामक कुशल अभिनेता सुदामा का स्वांग धारण करते। दोनों के अभिनय पर जनता मुग्ध थी। उस नाटक का अभिनय देखने के लिए मतवाला-मण्डल से हम लोग कई बार गए थे। उसकी तारीफ भी 'मतवाला' में निकली थी। बेताब जी प्रायः 'मतवाला' की बौछार से बचे रहे। उन्हें मतवाला-मण्डल में कई बार मुंशीजी के पास देखा था। उन्होंने 'पराग पंज' नामक एक पुस्तक लिखी थी

१. प्रकाशन : जून १९६२—मासिक 'नई धारा', पटना।

था हिन्दी पुस्तक एजेन्सी (कलकत्ता) से निकली थी। उसमें अनुप्रास वाले शब्दों का अच्छा संग्रह था। वह बहुश्रुत विद्वान् और उर्दू के अच्छे शायर थे। हिन्दी में भी उनकी अनुप्रासमयी कविता बड़ी सरस होती थी। पता नहीं कि उनका 'कृष्ण-सुदामा' नाटक कहीं प्रकाशित हुआ या नहीं। छपने पर हिन्दी में वह एक अनूठी चीज होता। बातचीत में भी वह उर्दू के अच्छे-अच्छे शेर सुनाया करते थे। एक बार जोगिया रंग की पोशाक में उन्हें देखा तो वह एक सिद्ध फकीर-से जान पड़े। आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करते समय वह एक अच्छे फिलासफर जान पड़ते थे। वह खुद कहा करते थे कि थिएट्रिकल कम्पनी की नौकरी सिर्फ रोटी के लिए करनी पड़ती है, नहीं तो स्टेज-रिहर्सल के समय कम्पनी की वेश्या अभिनेत्रियाँ किसी भले आदमी की इज्जत नहीं रहने देतीं क्योंकि कम्पनी के डाइरेक्टर उन्हीं सुन्दरियों के इशारे पर गीत रचवाते और नाटक के दृश्यों में हेर फेर करवाते हैं।

बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' हिन्दी के बहुत पुराने साहित्य-सेवी और यशस्वी पत्रकार थे। 'हिन्दी बंगवासी' आदि कलकतिया अखबारों में उन्होंने बरसों काम किया था। वह भी कम्पनी की नीति से सहमत नहीं थे। उन्होंने मतवाला-मण्डल में यह साफ स्वीकार किया था कि कम्पनी के नाटककारों को गुणविपुल नाटक लिखने की स्वतन्त्रता नहीं है। उस समय कोरिन्थियन थिएटर में मास्टर मदन नामक एक गायक की बड़ी धूम थी। उसके गानों और तानों पर जनता झूमने लगती थी। वह अच्छा अभिनेता तो न था पर गायक अच्छा था। उसके गाने थिएटरी ढंग के होते थे जिनमें उसका मीठा गला जादू भर देता था इसीलिए वह कम्पनी के मालिकों का कृपा-पात्र था। 'जौहर' जी के समान सुप्रतिष्ठित साहित्य महारथी के बनाये हुए गीतों में भी वह स्वेच्छानुसार काट-छाँट कराया करता था। 'जौहर' जी प्रायः मुंशीजी से इस बात की चर्चा किया करते थे कि कम्पनी में जो ललितकण्ठ गायक और कोकिलकण्ठी सुन्दरियाँ हैं उन्हीं के इशारे पर नाटककार और गीतकार को चलना पड़ता है। फिर भी 'जौहर' जी को बुढ़ापे में रोजी की चिन्ता तो थी ही इसलिए एक दिन उन्होंने मुंशीजी से कहा कि 'जर्सफी के आलम में जो सूखी रोटी और नमक

नसीब है यह भी जब 'मतवाला' को पसन्द नहीं है तब मैं अपनी कंपनी को 'मतवाला-मण्डल' में ही सम्पर्क रखना चाहता हूँ। इतना कहते-कहते उन वृद्ध वशिष्ठ की आँखें छलछला उठीं। उसी समय मुंशीजी ने उन्हें वचन दिया कि आज से कम्पनी के किसी भी नाटक के अभिनय पर एक शब्द भी न लिखने का 'मतवाला' दृढ़ संकल्प करता है। उसी दिन से 'मतवाला' ने पारसी थिएटरों का पीछा छोड़ दिया। बहुत दिनों के बाद जब एक बार काशी में 'जौहर' जी से भेंट हुई, तो उन्होंने 'मतवाला' के उठाये हुए उस नाटक विरोधी आन्दोलन पर बड़ा सन्तोष प्रकट किया। काशी में शहर से बाहर उनका एक अपना बंगला था। उनके गंजे सिर पर गोल टोपी बहुत फबती थी। उनकी बोली में बड़ी मिठास थी। उन्होंने आजीवन हिन्दी की सेवा की थी। हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में उनका गौरवशाली नाम अमर रहेगा।

पं० तुलसीदत्त 'शैदा' पंजाबी थे। वह हिन्दी के उतने अच्छे जानकार नहीं जान पड़ते थे जितने उर्दू के। वह जब कभी 'मतवाला'-मण्डल में आते अपनी उर्दू-शायरी खूब सुनाते। उनकी हिन्दी-कविता का छन्द-बन्ध ठीक नहीं जान पड़ता था। तभी उनकी तुकबन्दी उर्दू-शायरी का पुट पाकर बड़ी सुहावनी हो जाती थी। वह बड़े मस्तमौला और हँसोड़ आदमी थे। अपने गीतों को गुर गाकर अदा करने में बड़े कुशल थे। चुस्त पाजामा कलीदार अंगरखा कश्मीरी टोपी आँखों में सुरमा कान में इत्र का फाहा जेब में सोने की घड़ी और हाथ में आबनूसी छड़ी—उनका मनोहर बाना था। जब वह आते थे सफ़ेद मगही पान और जाफरानी पत्ती जर्दा मुंशीजी उनके सामने पेश कर देते थे। उनका ठहाका भी बहुत बुलन्द होता था। वह भी कम्पनी की नौकरी में अपनी लाचारी का हाल बयान किया करते थे। मगर 'बेताब' जी और 'जौहर' जी के समान उन्हें जनता की रुचि और साहित्य की मर्यादा से भ्रष्ट होने की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने ऐश-आराम की जिन्दगी की। इतने पर भी वह 'मतवाला' की कम्पनी विरोधी नीति के कायल थे। लेकिन कम्पनी के दायरे में अपनी मजबूरियों का वर्णन करते हुए वह 'मतवाला' से बराबर पनाह माँगा करते थे। कलकत्ता छोड़ने के बाद उनसे कभी भेंट नहीं हुई और न कहीं उनका

पता पाया । आगा हश्र साहब से तो एक बार काशी में महाकवि 'प्रसाद' के यहाँ भेंट हुई थी । वह उर्दू-फारसी के प्रकाण्ड पंडित और कवि थे । उनकी जबान से उर्दू सुनने में बड़ा मजा आता था । वह मँझोले कद और रोबीले चेहरे के तगड़े आदमी थे । वह भी हिन्दी में 'बेताब' जी की तरह अच्छी तुकबन्दी कर लेते थे । पारसी-रंगमंच को उनके नाटकों ने काफ़ी जीवन दान किया ।

कलकत्ता के पारसी रंगमंच पर जो अभिनेत्रियाँ काम करती थीं उनसे कहीं अच्छा बंगला-रंगमंच की अभिनेत्रियाँ कला-प्रदर्शन करती थीं । यद्यपि उन दिनों हिन्दी और बंगला रंगमंचों पर कई वेश्याएँ भी अभिनय करती थीं तथापि बंगाली अभिनेत्रियों में कई सराहनीय विशेषताएँ थीं । बंगीय-रंगमंच की अभिनेत्रियों में कृत्रिम और मोहक भाव-भंगिमा नहीं होती थी । उनके स्वाभाविक अभिनय को देखकर यह कोई नहीं कह सकता था कि वे नाच-गान का पेशा करनेवाली बाजारू स्त्रियाँ हैं । वे थियेटर कम्पनियों में नौकरी तो करती थीं पर वे जिस नाटक की पात्री होती थीं उसकी मर्यादा का ध्यान रखती थीं जिससे यह भान होता था कि उनके मन में भी बंगला-साहित्य और बंगला-रंगमंच की प्रतिष्ठा का ध्यान अवश्य है । किन्तु पारसी-रंगमंच की अभिनेत्रियाँ प्रायः दर्शकवृन्द पर अपनी सुन्दरता और अंग-भंगी की मोहिनी डालने में ही तत्पर दीखती थीं । उस समय सुना जाता था कि धनी घरानों के बहुतेरे बाँके नौजवान उनके शिकार हो चुके हैं । वास्तव में नाटक का उद्देश्य तो मनोरंजन के साथ-साथ समाज का सुधार और जनता के भावों तथा विचारों का उन्नयन करना है । किन्तु नाटकाभिनय का पेशा करनेवाली कम्पनियों ने नाटक के मुख्य उद्देश्य का निष्ठुरतापूर्वक हनन कर डाला है । उस युग में पारसी कम्पनियों ने नाटक-प्रदर्शन द्वारा समाज को पथभ्रष्ट किया और आज के युग में वही काम सिनेमा कम्पनियाँ कर रही हैं । यह सर्वनाशी तमाशा खुली आँखों हमारी अपनी सरकार भी देखती है और हमारे देश की नेता-मण्डली भी । किन्तु आज भी हिन्दी-कम्पनियों से बंगला और मराठी की कम्पनियाँ कहीं अच्छी हैं ।

उस समय कलकत्ता में जो सार्वजनिक नाट्य-समितियाँ और नाट्य

परिषदें भी वे भी पारसी रंगमंच के प्रभाव से बच नहीं सकी थीं। किन्तु बाबू रामलाल बर्मन की हिन्दी-नाट्य-समिति और पं० माधव शुक्ल के हिन्दी-नाट्य-परिषद् के जो अभिनय होते थे उन पर साहित्यिक छाप काफी रहती थी। इन दोनों सार्वजनिक नाटक-मण्डलियों में प्रतिद्वन्द्विता रहती थी। और वे ऐसी चेष्टा करती थीं कि इनके अभिनय पर काफी साहित्यिक रंग चढ़ा दीख पड़े। हिन्दी-नाट्य-परिषद् का कार्यालय उस समय झिंगुरिया पट्टी के मुहल्ले पर था और हिन्दी-नाट्य-समिति कार्यालय अपर चितपुर रोड में बाबू रामलाल बर्मन के कार्यालय के समीप ही था। उसी में मुंशी भृगुनाथ लाल संगीताचार्य रहते थे। वह गाजीपुर जिले के निवासी थे। उनके पास मैंने संगीतशास्त्र का एक हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ देखा था। उसमें गीतों की स्वरलिपियाँ भी दी गई थीं। मुंशीजी उस विशाल ग्रन्थ को छपवाना चाहते थे पर उनकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। अब उस ग्रन्थ का पता नहीं। यदि वह प्रकाशित हो पाता तो निश्चय ही हिन्दी में संगीत-विद्या का एक अनुपम ग्रन्थ होता। मुंशीजी बहुत वृद्ध थे इसलिए वृद्धावस्था की कामना के साथ उस ग्रन्थ का भी लोप हो गया। बाबू रामलाल बर्मन भी उस ग्रन्थ के प्रकाशन की बात सोचते-सोचते चल बसे। उनकी इच्छा कलकत्ता में एक हिन्दी रंगमंच स्थापित करने की भी थी। एक बार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के घर पं० चन्द्रशेखर पाठक के उद्योग से कुछ नाटक-प्रेमी साहित्यिकों का बटोर हुआ था। उसमें शर्माजी और गुप्तजी भी थे। उन्हीं दिनों चतुर्वेदीजी का 'मधुर मुरली' नामक नाटक और पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा का 'दुरंगी दुनिया' नामक नाटक प्रकाशित हुआ था। वे लोग हिन्दी रंगमंच की स्थापना के लिए कुछ दिन बहुत कार्य-तत्पर रहे। किन्तु वे सब के-सब कुछ ही दिनों के बाद इस संसार को छोड़ गए, और हिन्दी रंगमंच की स्थापना का उद्योग जहाँ-का-तहाँ रह गया।[1]

१ प्रकाशन : जनवरी १९६०—मासिक नई धारा, पटना।

पूज्य निरालाजी

विवेकानन्द-सोसाइटी (कलकत्ता) से जब हिन्दी मासिक 'समन्वय' निकलने का निश्चय हुआ तब उसके योग्य एक सम्पादक की खोज में सोसाइटी के विद्वान् सन्यासी स्वामी माधवानन्द एम० ए० सीधे आचार्य द्विवेदीजीके पास पहुँचे। द्विवेदी ने ही निरालाजी को चुनकर सोसाइटी में भेजा।

कहते हैं महात्मा गांधी ने नेहरू-सा नगीना चुना था। महापुरुष सचमुच सच्चे पारखी होते हैं। द्विवेदीजी ने निराला-सा नगीना परखा। प्रतिभा की जो परख उन्होंने की उसका लोहा कौन न मानेगा? निरालाजी को पाकर सोसाइटी धन्य हुई। स्वामी माधवानन्दजी के सामने ज्यों-ज्यों निरालाजी का जौहर खुलता गया त्यों-त्यों वह द्विवेदीजी की सौंपी हुई थाती को अनमोल रत्न की तरह जुगाने लगे।

मतवाला-मण्डल के मकान में ही उक्त सोसाइटी भी थी। मैंने स्वयं देखा था कि स्वामीजी बराबर निरालाजी की सेवा और सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। यहाँ तक कि वह सदा निरालाजी का मुँह जोहते रहते थे। निरालाजी का शील-सौजन्य ही ऐसा था कि एक बार जिसने उस पारस को परखा वह सोना होकर रहा। 'मतवाला'-सम्पादक श्री महादेव प्रसाद सेठ का जब सम्पर्क हुआ तब वह निरालाजी के हाथों बिक-से गए। उनके समान निराला-भक्त आज तक कोई हुआ ही नहीं। यदि वह जीवित रहते तो निरालाजी को कभी कोई विक्षिप्त नहीं कहने पाता।

सोसाइटी के अन्य संन्यासी लोग भी निरालाजी का बड़ा सम्मान करते थे। वे सभी बंगाली थे और बंगला भाषा तो निरालाजी के लिए

मातृभाषा के समान ही थी। उन विद्वान् संन्यासियों के साथ दार्शनिक बातचीत में निरालाजी ही बीस पड़ते थे। बंगला-साहित्य-सम्बन्धी संलाप में भी निरालाजी ही जबरदस्त निकलते थे। स्वामी वीरेश्वरानन्दजी ने एक बार उनकी विलक्षण तर्कशक्ति पर विस्मित होकर कहा था 'एमन की मानवेर मेधा ?'

'मतवाला'-सम्पादक सेठजी कभी-कभी कोई बात छेड़कर बहस का मजा लेने के लिए मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव और निरालाजी को भिड़ा देते थे। मुंशीजी तो सचमुच मुंशी थे, मगर निरालाजी की मनस्विता जब मुखर होती थी तब उस विवाद का दृश्य देखने योग्य होता था। निरालाजी को मुंशीजी भी इसीलिए उत्तेजित करते जाते थे कि अधिक-से-अधिक उनकी वाग्विदग्धता का आनन्द लिया जा सके। निरालाजी की तार्किकता की तारीफ़ यह थी कि उसमें कहीं से असंयम नहीं आ पाता था। उनकी स्मृति शक्ति और युक्तियुक्त बात का कायल होना ही पड़ता था।

'मतवाला' में निरालाजी की कविता तो बराबर छपती ही थी, समालोचना भी वही लिखते थे, पर उसमें अपना नाम देते थे—गरजन सिंह वर्मा। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं पर कुछ अंकों में लगातार लिखा। उस समय भी आदरणीय बख्शीजी ही सम्पादक थे। आचार्य द्विवेदी की इतनी अधिक ममता 'सरस्वती' पर थी कि उन्होंने रोषवश 'मतवाला' के एक अंक का विधिवत् सम्पादन करके डाक से भेज दिया। द्विवेदीजी ने उस अंक को आद्योपान्त रंग डाला था। उसे पाकर निरालाजी इतना अधिक हँसे कि उतनी देर तक उन्हें अविराम हँसते मैंने कभी नहीं देखा। उस समय उनकी बैसवाड़ी बोली में द्विवेदीजी की स्तुति सुनने योग्य थी।

निरालाजी कुछ दिन काशी में रहे थे। मैं भी उन दिनों वहीं था। 'प्रसाद'जी के साथ खूब बैठक होती थी। मध्य गंगा में बजड़े पर कविता पाठ भी हुआ था। निरालाजी ने हारमोनियम बजाकर 'श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन' पद गाया था। 'प्रसाद'जी ने परोक्ष में उनकी बड़ी प्रशंसा की थी। साहित्य और संगीत दोनों शास्त्रों में उनकी असाधारण गति

देखकर 'प्रसाद' जी बहुत प्रभावित हुए थे। 'प्रसाद' जी राग पुरविहाग ध्वनित थे। उन्होंने उसी समय निरालाजी को कई बार ठोककर कहा था कि हिन्दी को ईश्वर की देन है निराला। यह भविष्यवाणी आज प्रत्यक्ष है।

'पंचवटी' कविता का पाठ करते समय निरालाजी की भावभंगी देखकर मुंशीजी को पारसी रंगमंच के कुशल अभिनेताओं की भंगिमा याद हो आती थी। निरालाजी की नाट्यकला भी विलक्षण कभी रही है उनकी आँखों में आज भी उनका कौशल कौंधता रहता।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का महाधिवेशन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट-हॉल में हुआ था। कविवर रत्नाकरजी सभापति थे। हॉल से बाहर निकलकर निरालाजी सामने के पार्क (वेलिंग्टन स्क्वायर) में खड़े हो गए। कुरता उतार दिया। छाती तानकर भुजाओं की मांसपेशियों को उभारने और तोलने लगे। सिर पर जुल्फें झूम गईं। चारों ओर से तमाशा देखनेवाले आ जुटे। चकित और मोहित था वह पुंज वह निराला बस निराला ही था। रायस्वामी चित्रकार पं० मोती लाल शर्मा की चित्रावली कलकत्ता में प्रकाशित हुई। उसके चित्रों के नीचे निरालाजी ने ब्रजभाषा में परिचयात्मक कविताएँ लिखीं। उन्हें पढ़कर कालपी-निवासी श्रीकृष्णबलदेव वर्मा चकित होकर मुंशीजी से काफी देर तक तारीफ करते रहे। वर्माजी महाकवि पद्माकर के शिष्य माने जाते थे। 'विशाल भारत' वाले ब्रजमोहन वर्मा के वह चाचा थे। आज निरालाजी का भौतिक शरीर नहीं रहा पर उनका यश-शरीर उनकी कृतियों के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेगा।[1]

---

[1] देखिए १७ अक्तूबर १९६१।
सन्मार्ग ८ अक्तूबर १९६१—दैनिक आज वाराणसी।

मुंशीजी पटना सिटी के सेठ किशोरीलाल चौधरी के साबुन-तेल-फुलेल के कारखाने के मैनेजर थे और सेठजी के पुराने मित्र भी। एक बार निराला उनके कारखाने में गये तो मुंशीजी ने उन्हें वहाँ की सभी चीजें प्रेमोपहार-स्वरूप दीं। किन्तु 'मतवाला'-मण्डल में पहुँचते-पहुँचते सुगन्धित मुश्कनाफ तेल की एक शीशी ही बच पाई। साबुन की टिकियाँ भिखमंगों के गन्दे कपड़े साफ करने के लिए रास्ते में ही बँट गईं। उन्हें भिखमंगे पहचान गए थे। वह भी उन्हें मैले-कुचैले कपड़े पहने देखकर उनके पास ठिठककर पूछने लगे कि तुम्हें साबुन दे दूँ तो अपने कपड़े खूब साफ कर लेगा। भला अयाचित धन किस अभागे को न सुहाता! कई चोड़े हाथ निराला के आगे फैल गए और बलात् सब पर एक-एक टिकिया चू पड़ी। इतना ही नहीं मसालेदार तेल की बोतल भी घुलकर एक-एक की चाँद पर बरसने लगी। सुगन्धित तेल की शीशी मेरी जेब में उनकी आँखों से ओझल न होती तो वह भी पुण्य लूटकर रहती। तारीफ यह कि तेल ढालकर वह सुन्दर बोतल भी एक के हवाले कर दी। इतने में तिलकुट बेचनेवाला अपना खोमचा लिये उधर ही आ निकला और निराला ने अपनी जेब के सब पैसों से तिल की मीठी टिकड़ियाँ खरीद कर उन भुक्खड़ों में बिखेरना शुरू कर दिया। मजा यह कि सब चुक जाने पर उन बेचारों की गिड़गिड़ाहट सुनकर यह वादा भी कर दिया कि अब दूसरे किसी दिन फिर आकर तुम लोगों को प्यारी पकौड़ियाँ खिला दूँगा जिसे सुनते ही सब-के-सब एक स्वर से उन्हें असीसने लगे।

निराला की ये कहानियाँ आज के युग में उपन्यास की मनगढ़न्त बातें समझी जाएँ भले ही पर आज जो निराला की पूजा-प्रतिष्ठा हो रही है उससे इनकी साधना स्वतः सिद्ध हो रही है। पुण्य-बल के बिना कीर्ति प्रसार कदापि नहीं होता। निस्पृह त्याग से बढ़कर कोई पुण्य भी नहीं। व्यास-वचनानुसार 'परोपकाराय पुण्याय' तभी मनुष्य कर पाता है जब उसकी प्रकृति में त्याग-वृत्ति की प्रधानता रहती है। निराला अपने त्याग का प्रदर्शन नहीं करते थे। कभी किसी से उसकी चर्चा तक न करते थे। यह तो उनकी सहज प्रकृति का मूलाधार था। कोई उनके सामने इस गुण की प्रशंसा भी करता था तो वह मौन ही रहते थे। वह

आत्मश्लाघा सुनने के अभ्यासी न थे। कभी-कभी तो कहीं ऐसा प्रसंग छिड़ने पर वहाँ से उठकर अलग चले जाते थे। मैंने तो यहाँ उनके बहुत छोटे-मोटे त्यागों का उल्लेख किया है, उनकी क्षमता की सीमा से बाहर के बड़े-बड़े त्यागों के भी प्रसंग हैं, जिनसे उनका सारा जीवन ही व्याप्त है। पर मेरे विचार से मानव की महत्ता को परखने में उसके प्रतिदिन के जीवन की छोटी-से-छोटी बातें विशेष सहायक होती हैं। 'मतवाला' के प्रेस का मशीनमैन अचानक बहुत घायल हो गया। ट्रेडिल में उसका समूचा सारा हाथ ही पिस गया। वह गरीब मुसलमान था। सेठजी ने दो कम्पोजिटरों के साथ उसे अस्पताल भेजा और एक को अलग उसके घर भेजा कि परिवारवालों को अस्पताल में शीघ्र पहुँचना चाहिए। लाख मना करने पर भी निराला उस कम्पोजिटर के साथ उसके घर गये केवल इसीलिए कि उसके घर की गरीबी अपनी आँखों देख आएँ। जब तक वह अस्पताल में रहा निराला उसे फूलकटरा से गुलदस्ता खरीदकर दे आते थे और बीड़ी के बदले सिगरेट भी। उसके घरवालों को सेठजी से अतिरिक्त सहायता और पेंशन की रकम भी दिलवाई। उस आदमी ने लौटकर बतलाया कि आज निरालाजी उसके बूढ़े बाप और बीवी-बच्चा के लिए अन्न-वस्त्र की मासिक व्यवस्था भी कर आए थे। इस तरह के असंख्य छोटे-बड़े परोपकार उन्होंने किए थे जिनकी डायरी लिखी जा सकती है। कितने ही ऐसे काम तो किसी को मालूम भी न हो पाए हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सहज त्याग-भावना के बिना परोपकार हो नहीं सकता। सर्वोपरि बात यह कि उनके परोपकार-कर्म सात्त्विक होते थे क्योंकि सदा निष्काम भाव से किए जाते थे।

निराला तो अपने जीते-जी ठीक-ठीक परखे ही नहीं गए। उनकी दीनबन्धुता को निगाही दुनिया ने विक्षिप्तता की संज्ञा दे डाली। उनका त्याग भी स्वार्थी समाज में उनका पागलपन ही समझा गया। पर कठोर सत्य तो यह है कि निराला ने संसार या समाज की कृपा पर कभी काम ही न किए। आजन्म जीवन वीतराग की तरह रहे। ऋणी भी हुए तो पर हितार्थ ही। लड़े-झगड़े भी तो न्याय के पक्ष पर अडिग रहकर। अपनी पीर मोरी और पराई पीर सँजोई। स्वाभिमान के सर्वोच्च शिखर पर

बैठे रहकर फ़कीरी-बेफ़िक्री से संसार की ओर उपेक्षा-भरी नज़रियों से देखा। स्वयं हलाहल के घूँट पीकर दूसरों को अमृत ही पिलाते रह गए। समाज में त्यागी और साहित्य में बागी इस युग में दूसरा ऐसा हुआ ही कौन ?[1]

आदर्श महापुरुष महाकवि 'निराला'

पूज्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करते ही 'सरस्वती' में बाबू श्यामसुन्दर दास का चित्र प्रकाशित करके उसके नीचे जो पद्यात्मक परिचय लिखा था वह हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध है। उसकी एक पंक्ति है :

"सौम्य शीलनिधान बाबू श्यामसुन्दर दास।"

'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' की सेवा में रहते समय लगभग दो वर्ष मुझे बाबू साहब को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला था। उस समय भी आचार्य द्विवेदी की यह पंक्ति मेरे ध्यान में ही थी। उनके सम्पर्क का सौभाग्य प्राप्त होने पर मैंने इस पंक्ति के सहारे उनका अध्ययन भी किया। बाबू साहब के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखते हुए मैं बड़ी नम्रता के साथ यह कहना चाहता हूँ कि यह पंक्ति निरालाजी पर अधिक सटीक बैठती है।

बाबू साहब से निरालाजी की तुलना अभिप्रेत नहीं है। बाबू साहब अतिशय महान् साहित्य-महारथी थे। साहित्य-संसार में वह स्वयं एक महती संस्था थे। उनका शुभ नाम काशी नागरी प्रचारिणी सभा का पर्यायवाची बन गया था। उनकी तुलना किसी साहित्यकार से नहीं हो सकती। किन्तु उनके नाम के साथ जो विशेषण द्विवेदीजी ने लगा दिया था उसको उनके न रहने पर निराला ने ही सार्थक और चरितार्थ किया।

---

१ निधन : ९ जनवरी, १९६२।
प्रकाशन : ११ फरवरी, १९६२— साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (निराला-स्मृति अंक), नई दिल्ली।

निरालाजी आचार्य द्विवेदी के कृपापात्र ही नहीं स्नेह-भाजन भी थे। सबसे पहले द्विवेदीजी ने ही उनकी मेधाशक्ति को परखा। द्विवेदीजी के हार्दिक आशीर्वाद के साथ ही वह हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। इस बात को वह स्वयं मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते थे।

जब वह 'मतवाला' में 'गरगजसिंह वर्मा' के कल्पित नाम से अन्य पत्र-पत्रिकाओं के साथ 'सरस्वती' की भी आलोचना करते थे तब द्विवेदीजी को इसका पता न था कि निराला ही आलोचना लिखा करते हैं। 'सरस्वती' की आलोचना जब उन्हें असह्य हो उठी तब जितने अंकों में आलोचना छपी थी सबको आद्यन्त संशोधित करके भेज दिया और लिखा कि दूसरे का छिद्रान्वेषण करने से पहले अपनी ओर देख लेना चाहिए। द्विवेदीजी ने पेंसिल से ही सब अंकों को आपाद-मस्तक काट छाँटकर रजिस्ट्री से भेजा था। निरालाजी उस समय बहुत देर तक हँसते-हँसते थक गए और उस दिन से आलोचना के लिए कभी 'सरस्वती' को हाथ में न लिया। उनका आग्रह था कि आचार्य की लेखनी से शोधे गए पृष्ठ प्रकाशित कर दिए जाएँ, पर 'मतवाला'-सम्पादक ने उन पृष्ठों को तिजोरी में सदा के लिए बंद कर दिया। यदि वे पृष्ठ आज मिल सकते तो अनमोल समझे जाते।

निराला अपने गुरुजनों के प्रति जैसे शिष्ट थे वैसे ही स्वाभिमानी और त्यागी भी थे। जिस प्रकार वह स्वयं किसी आदरणीय व्यक्ति का सम्मान करते थे उसी प्रकार वह उस व्यक्ति से भी सम्मान पाना चाहते थे। एक बार वह एक साहित्यिक सभा (कलकत्ता) में गए तो उसके सभापति ने उठकर उनका स्वागत नहीं किया। मंच पर वह तो गए, पर क्षण-भर खड़े ही रहकर नीचे उतर आए। तब भी सभापति ने उन्हें नहीं रोका-टोका। 'मतवाला'-सम्पादक उनका रुख समझ उनके पीछे लग गए। किन्तु निरालाजी बाहर आते ही टैक्सी पर आगे निकल गये।

वहीं एक कवि-सम्मेलन में कवियों की जो नामावली सुनाई गई उसके अन्त में उनका नाम था ताकि श्रोता अन्त तक डटे रहें। परन्तु नामावली के आरम्भ में ही अपना नाम न सुनकर वह उठकर चल पड़े।

हम साथियों ने रोकना चाहा तो कहने लगे कि मैं कविता चाहे अन्त में ही पढ़ता पर आमापत्री में सबसे नीचे मेरा नाम क्यों दिया गया और मुझसे पूछा भी न गया।

आखिर चले ही गए। उनका स्वाभिमान बड़ा दुलार चाहता था। उसपर आंच उठाना सबके वश का न था।

गत वर्ष मैं नवम्बर (१९६०) में उन्हें देखने प्रयाग गया था तो २४ नवम्बर को त्रिवेणी-स्नान के समय देखा कि एक चमचमाती 'बस' पर बम्बई से प्रसिद्ध अभिनेता श्री राजकपूर और कुछ चलचित्र-तारिकाएँ आई थीं। हजारों दर्शकों की अपार भीड़ थी। 'गंगा-जमुना' के देश का चित्र बनने वाला था। मैंने निरालाजी के पास जाकर उस दृश्य का वर्णन किया। सुनकर कहने लगे कि राजकपूर के पिता पृथ्वीराजजी जब कभी प्रयाग आये तब मेरे पास अवश्य ही आये पर राजकपूर अब तक नहीं आया। ऐसा उनका मिजाज शुरू से था।

'मतवाला'-मण्डल के मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव के साथ वह एक दिन पंडित नारायणप्रसाद 'बेताब' से मिलने गये। बेताबजी नामी नाटककार थे। उन्होंने अपने निवास-स्थान पर एक नाट्य-गोष्ठी का आयोजन किया। उसमें निरालाजी को भी आमन्त्रित किया। पर हम लोगों के बहुत आग्रह पर भी वह नहीं गये। बोले कि मैं पहले-पहल उनके घर जाकर उनसे मिला और आज तक वह मुझसे मिलने मेरे पास नहीं आये। यदि उन्हें अवकाश नहीं तो आज मुझे भी नहीं है। ऐसे असंख्य प्रसंग हैं जो उनके आत्माभिमान के गौरव-शिखर को दूर से ही इंगित करते हैं।

उनके त्याग की कहानियाँ तो अनन्त हैं। उनकी डायरी लिखी जा सकती है। 'मतवाला' प्रति शनिवार को निकलता था। उस दिन प्रातःकाल ही कई बंगाली युवक स्नातक आफिस साइकिल लेकर पहुँच जाते थे। वे प्रति सप्ताह अखबार बेचकर अपना कमीशन ले लेते थे। 'मतवाला' की काफी धूम और मांग थी। गरीब छात्रों को उसकी बिक्री से पर्याप्त सहायता मिल जाती थी। एक दिन एक अत्यन्त दीन-मलीन छात्र से निरालाजी हालचाल पूछने लगे। उसने बतलाया कि माँ की

साइकिल पर अखबार बेचता हूँ। उसे फटेहाल देखे ऐसे द्रवित हुए कि वह सौ रुपये की नई साइकिल तो खरीद ही दी, उसके लिए सूट भी बनवा दिया और कहा कि स्वावलम्बन का सहारा मत छोड़ो तथा पुस्तकें खरीदने के लिए पैसे मुझसे लेते जाओ। 'मतवाला'-सम्पादक को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने निरालाजी से पूछा कि दो-ढाई सौ रुपये इस समय कहाँ से आपको मिल गए। निरालाजी ने हँसकर टाल दिया। फिर पता चला कि उन्होंने श्री महावीरप्रसाद झुनझुनवाला (पुस्तक प्रकाशक कलकत्ता) से एक पुस्तक लिखने का वचन देकर पेशगी ले लिया है।

'मतवाला' कार्यालय का दरबान गोरखपुर-बस्ती की ओर का रहने वाला एक बड़ा खूबसूरत नौजवान था। वह निरालाजी को 'गुरुजी' कहा करता था। उसकी शादी ठीक हुई तो उसने उनसे निवेदन किया कि मेरी बारात में अवश्य चलिए। किन्तु उसकी शादी के ऐन मौके पर निरालाजी का भतीजा जिसे वह 'बड़कौना' कहा करते थे बीमार हो गया। तब भी उन्होंने रेशमी साड़ी, मखमली कुर्ती, सोने का इयर-रिंग (कर्णाभरण), छल्ला-बुलाक आदि खरीदकर उसे दस रुपये नेवते के साथ दे दिया। यह काम उन्होंने बिल्कुल चुपचुप किया। जब वह शादी के बाद लौटा तब यह रहस्य खुला। वह अपने ऐसे गुप्त उपकारों की कभी कहीं चर्चा तक न करते थे। उनकी कमाई के अधिकांश पैसे मौन भाव से परोपकार में ही खर्च होते थे।

मुहम्मदपुर (मुजफ्फरपुर) के वार्षिकोत्सव से लखनऊ लौटते समय मुझसे मिलने के लिए बीच में पटना उतरे तो रिक्शेवाले की फटी गंजी देख उससे हालचाल पूछने लगे और एक नई गंजी तथा एक नया अँगोछा खरीदकर अपने सामने ही फटी गंजी निकलवाई और नई पहनाई। वह बेचारा रोता हुआ उनके चरणों पर लोटने लगा। ऐसे उपकार वह किया करते थे।

निरालाजी खड़ी बोली की नई धारा के क्रान्तिकारी कवि तो थे ही ब्रजभाषा के भी रससिद्ध कवि थे। मारवाड़ी चित्रकार पं० मोतीलाल शर्मा (कलकत्ता) की चित्रावली में प्रत्येक चित्र के नीचे उनका लिखा

ब्रजभाषा का पद्यात्मक चित्र-परिचय प्रकाशित हुआ था जिसे देखकर काशी (उत्तर प्रदेश) के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी बाबू कृष्णबलदेव वर्मा चकित होकर निरालाजी की ओर बड़ी देर तक मुग्ध मुद्रा से देखते रह गए। वह महाकवि केशवदास के विशेषज्ञ माने जाते थे और 'विशाल-भारत' के संयुक्त सम्पादक बाबू ब्रजमोहन वर्मा के पितृव्य थे। 'मतवाला' कार्यालय में वह प्रायः आया करते थे। निरालाजी के कविता-पाठ का अभिनय भी देख चुके थे। जानते थे कि निरालाजी हिन्दी के प्राचीन साहित्य से अभिज्ञ हैं। पर उस दिन ब्रजभाषा की कविता-रचना में निराला की निपुणता देखकर वह रीतिकाल की कसौटी पर निराला को परखने लगे। निराला ने तुलसी से केशव की तुलना उस स्थल पर की जहाँ राम की वनयात्रा में सीता और लक्ष्मण सावधानीपूर्वक राम के पदांक को बचा कर चलते हैं। 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' के ऐसे ही कई स्थलों पर जब निराला ने तुलसी के साथ केशव को मिलाकर दोनों के जौहर दिखाए, तब वर्माजी को उनकी विचार-सरणि में अभूतपूर्व नवीन अथवा आह्लादपूर्ण विस्मय चमत्कार दीख पड़ा साथ ही लोहा भी मानना पड़ा। निराला की बहुमुखी प्रतिभा से कितने ही लोग विस्मित हो चुके हैं पर जब तक वह प्रतिभावान रहा हमने नहीं पहचाना।

उनके व्यंग्यात्मक विनोद भी नहीं भूलते। मेरा तीसरा विवाह हुआ तो मेरी धर्मपत्नी को देखने काशी आये। भाई दयाजी पहले ही आकर देख गए थे। देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मैं कालभैरव की चौमुहानी के पास रहता था। वहाँ बूढ़ा महादेव मलाईवाला बड़ा नामी था। भोजन के समय पूआ-पूरी और खीर के साथ वह नामी मलाई भी थी। मैंने कहा कि महादेव की मलाई की तारीफ़ यह है कि उसमें उँगली नहीं गड़ती। हँसकर बोले 'अच्छा तो अपने नए अनुभव के अनुसार किसी दूसरी ऐसी चीज़ का नाम बतलाइए जिसमें उँगली न गड़ती हो और जिसका स्वाद भी ऐसा ही आनन्ददायक हो।' मेरी देहाती पत्नी इस विनोद को न समझ सकी पर हम दोनों खूब हँसे। किन्तु जब मैंने कहा कि पूरी और साग ही अधिक खा रहे हैं, पूआ और खीर-मलाई भी माँग-माँगकर

चाहिए, तब फिर हँसकर कहने लगे कि मैं भोजन के स्वाद का आनन्द लेने में उकताता नहीं और रसीली वस्तु का आनन्द रखे रखे लेने से ही तृप्ति होती है। मैं हँसने लगा और मेरी पत्नी झट वहाँ से उठकर चौके में चली गई, तब उनका भी हास्य उस स्थान को मुखरित करने लगा। उनके स्नेह की स्मृति बहुत सालती है।

उनकी सेवा-भावना का तो कहना ही क्या ! 'मतवाला' के प्रथम कार्यालय (२३ शंकरघोष लेन) के पिछवाड़े विद्यासागर कॉलेज था। उसकी एक सभा में हम लोग जा रहे थे। कार्नवालिस स्ट्रीट के फुट पाथ पर आर्यसमाज मन्दिर के सामने एक कुत्ता कराहता पड़ा था। उसकी पीठ पर एक पका घाव था। देखते-देखते उसके पास बैठ गए। सभा का समय हो गया था। पर वह झट उठकर सामने के दवाखाने से मरहम की डिबिया खरीद लाए, अपने रूमाल से घाव पोंछकर फेंक दिया और ढाढ़ मरहम उसके घावों पर लेप दिया। उसके बाद ही नल पर हाथ धोकर सभा में आये। मुंशीजी ने सभा से लौटती बार विनोद किया कि बेचारे को कुछ खाना भी दे दीजिए, तो तुरन्त खोमचेवाले से पकौड़ियाँ लेकर कुत्ते के आगे रख दीं। वह आतुरता से गपकने लगा तो खिलखिलाकर हँसने लगे। ऐसी बहुतेरी बातें हैं जिनसे निरालाजी के करुणार्द्र हृदय का परिचय मिलता है।

मेरी दूसरी पत्नी रोग-शैया पर शोचनीय स्थिति में पड़ी थी। मैं वाराणसी घोष स्ट्रीट में 'हिन्दू-पंच' के सम्पादक पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ रहता था। 'मतवाला' की सेवा में व्यस्त रहने से उसकी सेवा-शुश्रूषा में कठिनाई होती थी। दोनों स्थानों के बीच काफ़ी दूरी थी। निरालाजी ने सम्पादक और मुंशीजी से कहकर मेरे संकोच करने पर भी उसको कार्यालय में ही लाकर रखने का प्रयत्न किया। एक कमरा खाली कराया। उसके आ जाने पर चिकित्सा और सेवा में उन्होंने जो तत्परता और सहानुभूति प्रदर्शित की वह उन्हीं के योग्य थी। यहाँ तक कि मल-मूत्र की सफ़ाई करने में भी तनिक न हिचके। मैं हाथ जोड़ कर कहता कि आप ब्राह्मण होकर मुझ पर पाप चढ़ा रहे हैं, तो कहते कि

जिस संस्था (रामकृष्ण-मिशन) में रहता हूँ उसका मुख्य सिद्धान्त सेवा-व्रत का पालन ही है।

ऐसा आदर्श पुरुष हिन्दी में कहाँ कोई है ?[1]

देवोपम पुरुष 'निराला'

राष्ट्रभाषा हिन्दी के हृदय पर प्रोफेसर ललितविलोचन शर्मा के निधन का घाव अभी हरा ही था कि महाकवि 'निराला' के निधन ने उसमें बड़ी क्रूरता से नमक लगा दिया। यह पार्थिव शरीर तो नश्वर है ही पर जब तक इस लोक में हिन्दी रहेगी तब तक उनका यशःशरीर अमर रहेगा। कवि, कथाकार, निबन्धकार, पत्रकार, उपन्यासकार और आलोचक के रूप में भावी पीढ़ियाँ उनका सादर स्मरण करती रहेंगी। जो कोई उनके सम्पर्क में आया, उनके शील-सौजन्य से प्रभावित हुए बिना न रहा। उनकी प्रखर मेधाशक्ति उनके रचे साहित्य में प्रतिबिम्बित है। उनकी सहृदयता और उदारता वर्तमान हिन्दी-जगत् में अतुलनीय कही जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। उनके समान अतिथि-सत्कार-परायण तो बहुत कम ही लोग होंगे। निःस्पृह त्यागी तो वह ऐसे थे कि उनकी तुलना का कोई व्यक्ति साहित्य-संसार में आँखों तले नहीं आता।

उनको लोग इधर कुछ दिनों से अर्द्धविक्षिप्त कहने लग गए थे, पर वास्तव में किसी प्रकार का उन्माद उनमें नहीं था। अपनी ही चिन्तन धारा में सतत तल्लीन रहने के कारण वह प्रायः बाह्य-ज्ञानशून्य रहा करते थे। यह उनका जन्मजात स्वभाव था। 'मतवाला' के समय से ही मैं उन्हें देखता आया कि चिन्तनशीलता के कारण सामने ही होती हुई बातचीत वह नहीं सुन पाते थे। कई बार सभा-सम्मेलनों से आकर वह लोगों से पूछने लगते थे कि अमुक वक्ता ने क्या-क्या कहा। ऐसे विरल चिन्तक होने से ही वह जीवन भर स्वार्थी शोषकों द्वारा लूटे गए। उन्हें यदि अपने

---

१. पैगाम : १८ अक्टूबर १९६१।
   प्रकाशन : मार्च १९६२—'त्रिपथगा' (निराला-संस्मरण अंक), लखनऊ।

ठग या छले जाने का ज्ञान भी हो जाता था तो वह अपने अंगीकृत शील की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। कभी-कभी तो वह जान-बूझकर प्रत्यक्ष प्रवंचनाओं और प्रतारणाओं को हँसते-हँसते उपेक्षित कर देते थे। अपनी प्रतिभा और कमाई से दूसरों को अनुचित लाभ उठाते देखकर भी वह उन लोगों के प्रति सदा सहानुभूतिशील ही बने रहे। दूसरों के लाभ और हित के लिए अपनी अर्जित सम्पत्ति का स्वेच्छा और सन्तोष के साथ उत्सर्ग करने में वह स्वभावतः सुख का अनुभव करते थे। परोपकार करते रहने की उनकी सहज प्रकृति थी पर कभी कहीं उसकी चर्चा तक न करते थे।

गत वर्ष नवम्बर (१९६०) में उनकी अस्वस्थता का विवरण बताने वाला एक छपा पर्चा मुझे प्रयाग से मिला। मैं २१ नवम्बर को उन्हें देखने के लिए प्रयाग गया। लीडर प्रेस में भारती भण्डार के व्यवस्थापक पंडित वाचस्पति पाठक के घर पर सामान रखकर सीधे उनके पास दारागंज चला गया। मेरे साथ मेरा ज्येष्ठ पुत्र (आनन्दमूर्ति) और मेरा पाँच वर्ष का पौत्र (अरुण) भी था। मुझे अपने आगे उपस्थित देख वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। कुशल-मंगल के बाद हाल-चाल पूछकर बोले कि आप दूर की यात्रा में थके हैं। रात हो रही है जाकर विश्राम कीजिए और कल प्रातःकाल यहीं आ जाइए, तब दिन भर बातचीत होगी भोजन भी यहीं मेरे साथ करना होगा। उस समय मैंने देखा कि उनके पैरों में कुछ सूजन है। उनके एकमात्र सुपुत्र पं० रामकृष्ण त्रिपाठी भी उनकी सेवा में आ गए थे। पता चला कि उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्द और शिक्षामन्त्री पं० कमलापति त्रिपाठी वहाँ उन्हें देखने आये थे तो विशेषादेश द्वारा रामकृष्णजी का तबादला झाँसी से प्रयाग करा दिया था। वह झाँसी में संगीत के प्राध्यापक थे। अब प्रयाग में आकर वह अपने पूज्य पिता की सेवा-शुश्रूषा में हाथ बँटाते थे। उनका परिवार अभी झाँसी में ही था। उनकी इच्छा थी कि दारागंज में एक मकान लेकर परिवार के साथ पिताजी की सेवा करते रहें। किन्तु यह जानकर भी मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि निरालाजी स्थान-परिवर्तन करना नहीं चाहते। उक्त मन्त्रियों और डॉक्टरों की सलाह मानकर वह सरकारी अस्पताल में जाने

को माया वह सुबह होते-होते ठिकाने लग गया। वह धुर्मसमी नहीं थे विषमी भी नहीं थे। परन्तु यारों को पता रहता था कि उनके पास रुपये आये हैं और वह जरूरतमन्दों के सामने इन्कार नहीं कर सकते। उनकी मुक्तहस्तता से लाभ उठाने के लिए बहुतेरे लोग बरबस जरूरतमन्द बन जाते थे। रेशमी कुरता और रेशमी चादर भी गायब हो जाए तो उसकी खोज या चिन्ता में तनिक भी परेशान नहीं होते थे। तकिया-तले कितने रुपये रखे थे और कितने खर्च होने से बच गए हैं, यह बात रखना उनके लिए सम्भव नहीं था। उनके इस निर्लेप स्वभाव से जो लोग परिचित थे वे उन्हें कल्पवृक्ष ही मानते थे। कल्पवृक्ष तो वह दीन-दुखियों के थे ही पर नकली या बनावटी दुखिया भी उनके पास पहुँचकर बहती गंगा में हाथ धो लेते थे। सचमुच वह उन अल्प पुरुषों में थे 'जिनके लहहि न मंगल नाहीं'। कामिनी-कांचन से उदासीन और विरक्त रहने वाला ही तो महापुरुष कहलाता है।

निरालाजी की रचनाओं पर विचार करने का यह अवसर नहीं है। पर यह तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वह भाषा के असाधारण पारखी थे। भाषा की प्रकृति शैली, पाठ और शुद्धता परखने में उनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। 'मतवाला' में वह 'गरजनसिंह वर्मा' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं और नई पुस्तकों की भाषा पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया करते थे। शब्दों के विरल प्रयोगों पर वह हमेशा ध्यान रखते थे। कविता या गद्य की कोई पुस्तक या रचना पढ़ चुकने के बाद उसकी अशुद्धियों तथा भाषा-भाव-विषयक असंगतियों पर बड़ी मार्मिकता से अपनी निर्णयात्मक सम्मति व्यक्त करते थे। हिन्दी-संसार के धुरन्धर-से धुरन्धर साहित्यकारों में भी जो बात उन्हें खटक जाती थी उसे स्पष्ट प्रकट कर देते थे। इस विषय में उनकी सूक्ष्मदर्शिता विलक्षण थी। भाषा की बारीकियों की पहचान में पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बड़े दक्ष थे किन्तु ऐसा प्रसंग छिड़ने पर उन्हें भी निरालाजी का लोहा मानना पड़ता था। निरालाजी के युक्तियुक्त तर्क से कायल होते उन्हें भी मैंने देखा है। यह काम निरालाजी कभी पाप ईर्ष्या से प्रेरित होकर नहीं करते थे। हिन्दी के स्वरूप को निष्कलंक बनाये रखने के लिए ही वह शब्द-योजना और

वाक्य-विन्यास पर गहरी निगाह रखते थे। भाषा-सम्बन्धी अराजकता उन्हें असह्य थी। तब भी इस विषय के विवाद में किसी से उलझना उन्हें अभीष्ट न था। इसीलिए वह अस्मित नाम से 'मतवाला' में समाचार लेख माला लिखते रहे। हिन्दी की तो बात ही क्या बंगला भाषा के दुष्प्रयोगों पर वह अपने सहवासी विद्वान् बंगाली संन्यासियों को चुनौती दिया करते थे। भाषा की खूबियों और खामियों पर उनके समान सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि रखनेवाला कोई सहृदय प्रहरी अब नहीं सूझ पड़ता।

निरालाजी अपनी जवानी में कुश्ती भी लड़े थे। 'मतवाला'-कार्यालय में भी वह दण्ड लगाकर कसरत किया करते थे। उक्त मुंशीजी जब अपने घर (जिला बलिया) जाते थे तब उनके लिए गंगा की चिकनी मिट्टी लाया करते थे। उस समय उनके सिर पर काली-काली जुल्फें थीं। सेठजी उनके लिए केश-रंजन और जवाकुसुम तेल लाकर रखे रहते थे। इतना ही नहीं उनके जूते में रोज पालिश भी किया करते थे। जब वह बाहर घूमने निकलते सेठजी उनकी जेब में रुपये-पैसे डाल देते। किन्तु लौटने पर एक पैसा भी उनके पास बचा न रहता और कोई चीज भी खरीदकर नहीं लाते। भिखारी भी उन्हें पहचान गए थे क्योंकि वैसा अलमस्त दानी कलकत्ता-भर में कोई मिला न था। जेब में हाथ पड़ने पर जो कुछ बना साथ निकल आता वह आगे पसारे हाथ पर अँगुली से रखकर अपनी राह चले जाते। उनके अक्खड़ मिजाज की थाह कभी मिलती न थी। मुंशीजी प्रायः बतलाते रहते थे कि हाथ समालिए और भविष्य के लिए संचय भी कीजिए। वर्तमान का ही उन्हें ख्याल न था तो भविष्य की क्या कथा! वह तो व्यायाम के समय अपनी फूली छाती और मांसल भुजाओं की मांसपेशियाँ ही देख-देखकर प्रसन्न होते थे बुढ़ापे की कल्पना उनके उत्फुल्ल मस्तिष्क में क्यों आती! वह पुरुषार्थ के कवि थे। उनके तन-मन में सदा पौरुष का तेज-ओज भरा रहता था। पहले-पहल उनकी कविता पुस्तक 'अनामिका' निकली तब अभिनय की भावभंगी के साथ वह जब सुनाने लगे उनके पुरुषत्व का रोमांचकारी रूप सामने खड़ा हो गया। वह बड़े कुशल और सफल अभिनेता भी थे। महिषादल (बंगाल) के राजा उनके अभिनय-कौशल पर मुग्ध होकर उन्हें राजकुमार की तरह मान

प्यार करते रहे। किन्तु निराला किसी प्रकार के राजसी प्रलोभन के शिकार होनेवाले व्यक्ति न थे। गोकुल से मथुरा चले आये तो भूले-भटके भी गोकुल की ओर रुख न किया। शौकीनी का मजा भी खूब लिया। भारतेन्दुजी की तरह अंजलि में इत्र की शीशी उँडेलकर बदन में पोता और कभी मैले-कुचैले पहने ही तलहथी पर सुरती मलते बाजार की ओर नंगे पाँव नंगे बदन निकल गए। उन्हें इसका ज्ञान ही न था कि कल जिसने धुलकर धोती-कुरते में देखा है वह आज फटेहाल देखेगा तो क्या कहेगा! किसी के कुछ कहने-सुनने की परवाह उन्हें थी ही नहीं।

निरालाजी क्रान्तिकारी विचार के थे। उन्होंने काव्य-शैली में क्रान्ति उपस्थित कर दी। वह युग-प्रवर्तक थे साहित्य-क्षेत्र में नवयुग का शुभागमन दिखाकर उन्होंने अपना नाम सार्थक किया। सच यही है, पर सबसे बढ़कर वह देवोपम मनुष्य थे। उनकी मनुष्यता ने ही समस्त लोक-मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया। यदि वह निष्कपट हृदय और उदात्त चरित्र के व्यक्ति न होते तो केवल प्रतिभा के बल से साहित्यिक समाज के हृदय पर एकाधिपत्य स्थापित न कर पाते। पूर्ण मानवता ने उनकी प्रतिभा को विशेष उद्दीप्त कर दिया। उनके मनुष्यत्व की महिमा से जो परिचित हैं वे उनके विषय में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं को सर्वथा निराधार मानते हैं। एक बार पुष्प प्रदर्शनी (कलकत्ता) में सेठजी ने पाँच रुपये में खरीदकर एक सुन्दर गुलदस्ता निरालाजी के हाथ में थमाया। जब घूम-फिरकर सब लोग कार्यालय में आये तब पता चला कि वह गुलदस्ता प्रदर्शनी में ही कहीं छोड़ आए, जिसके लिए उनको साथ लेकर सेठजी फिर ट्राम पर प्रदर्शनी गये पर निरालाजी को स्मरण ही न रहा कि कहाँ छोड़ा। सेठजी ने जाड़े में उनके लिए तफरसारे की एक निहायत नफीस दुलाई बनवाई। बड़े श्रम से ढाका-मलमल खरीद लाये बढ़िया रंगों में दोनों पल्ले रँगवाए, रूई भी लाल-हरी रँगी गई उस पर अबरक की परतें जड़ी गईं मगजी पर चौड़ा हाशिया चारों ओर लगा ऊपर से घनी सुजनी भी पड़ी। निराला ओढ़कर मुसकराये भी पर एक दो सप्ताह बाद उसे एक भिखमंगे को ओढ़ा दिया। जाड़े की सर्दी में वह कंपन युक्त अंग उनके सामने आ गया जब शीत कंपन तन से

उठाकर उसकी देह पर अपने ही हाथों लपेट दिया। मैंने चौंककर ही देखा तो सेठजी और मुंशीजी को प्रेस में से बुलाने दौड़ा। जब तक वे दोनों बाहर आये तब तक वह मखमली कंबल छूमन्तर हो गया। कम्बल दान प्रसाद पाते ही उसके पैरों में पंख लग गए। सेठजी स्वयं दौड़ पड़े पर वह भाग्यवान् क्यों मिलने लगा! और निरालाजी? वह खिलखिला कर हँसते ही रहे "क्यों आप लोग परेशान हो रहे हैं—बेचारा आराम से जाड़ा काटेगा!" सेठजी ने भी हँसकर ही कहा 'आप धन्य हो महाराज!"

निरालाजी तो निस्सन्देह धन्य थे। पर अब कोरा धन्य-धन्य कहने से कोई लाभ नहीं। उनकी समस्त रचनाओं को 'निराला-ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित करने का संगठित उद्योग होना चाहिए। उनकी बर्सी पर उनकी ग्रन्थावली की ही श्रद्धांजलि अर्पित हो सकती तो हिन्दी-माता को वस्तुतः बड़ी सान्त्वना मिलती।

निस्सन्देह उन्होंने हिन्दी-माता को अपना सर्वोत्तम दान दिया। उनके आलोचक जब विस्मृति के गर्भ में कभी के विलीन हो चुके होंगे निराला-जी का नाम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाएगा।

निरालाजी को यह आशा थी कि स्वराज्य होने के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी का बोलबाला होगा पर वह पूरी नहीं हुई। इससे वह अत्यन्त निराश हो गए थे। जब कविवर पण्डित सनेहीजी उनसे मिलने गये तो उन्होंने सनेहीजी से कहा था 'देखो मैं मरना चाहता हूँ और लोग मुझे मरने भी नहीं देते! मैं किसके लिए जीऊँ? आज भाषा और साहित्य तो राजनीति के अस्त्र-शस्त्र बन गए हैं और हिन्दी की जो दुर्दशा हो रही है, उसे मैं अब और नहीं देख सकता। अंग्रेजी ही आज सर्वप्रिय भाषा बनी हुई है—जनता समझे या न समझे।"

निरालाजी के जीवन में हम लोग उनके प्रति न्याय नहीं कर सके। अब यदि उनके स्वर्गवास के बाद उनकी कीर्ति रक्षा के लिए समुचित उपाय करें तो उस उपेक्षा का कुछ प्रायश्चित हो सकता है।

श्री बरुआ ने उन पर एक ग्रन्थ निकालकर और उनकी एक फिल्म बनाकर बड़ा उपयोगी कार्य किया था और तदर्थ वह धन्यवाद के

पास है। एक बार तो निरालाजी की समस्त रचनाएँ छप ही जानी चाहिएँ और तत्पश्चात् उनकी चुनी हुई श्रेष्ठ रचनाओं को एक जिल्द में छपा देना ठीक होगा।

निरालाजी की कविताओं का उचित मूल्यांकन भले ही देर-सबेर से हो पर वह अमर हैं।[1]

दीनबन्धु 'निराला'

महाकवि रहीम के प्रसिद्ध दोहे की यह एक पंक्ति महाकवि निराला पर सटीक बैठती है— "जो रहीम दीनहिं लखै दीनबन्धु सम होय।" निराला सचमुच दीनों को ही बराबर लखते थे और उन्हें लखते-लखते वह भी दीनबन्धु के समान हो गए थे। दीनबन्धु के समान न हुए होते तो समस्त हिन्दी-संसार में आज उनकी जैसी लोकप्रियता दीख पड़ती है वैसी आज तक किसी साहित्यकार की नहीं दीख पड़ी थी। सर्वत्र उनकी अर्चना बड़ी श्रद्धा से हो रही है। बड़े-बड़े धुरन्धर महारथी साहित्य-संसार से चले गए, किसी को निराला के समान सार्वजनिक सम्मान नहीं मिला। अपने जीवनकाल में भी वह साहित्यानुरागियों के लिए आकर्षण केन्द्र और श्रद्धा भाजन बने रहे। मृत्यु के बाद भी उनका सादर स्मरण विविध प्रकार से किया जा रहा है। यह उनके पुण्याचरण का ही प्रताप है। पुण्यशील के पास सब विभूतियाँ आप-ही-आप आती हैं। दीनबन्धुता से बढ़कर पुण्यशीलता और है ही क्या? दीनबन्धु भगवान् को सन्तुष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय दीनों का सच्चा बन्धु होना ही है। निराला भी सच्चे अर्थ में दीनबन्धु थे। अपनी शक्ति के अनुसार वह जीवन-पर्यन्त दीन दुखियों की सेवा-सहायता करते रहे। जहाँ सेवा-सहायता में समर्थ न हो सके वहाँ हार्दिक सहानुभूति का ही उपयोग करके सन्तोष पाया। पर हर घड़ी उनके मन में दीनों की सेवा-शुश्रूषा की कामना जागती ही रही।

१. सेनानी : १७ अक्टूबर १९६१।
प्रकाशन : २ नवम्बर १९६१—'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' नई दिल्ली।

परमात्मा ने उनकी मनोवृत्ति और प्रकृति समझकर ही उन्हें सबसे पहले श्री रामकृष्ण-मिशन की सेवा में नियुक्त किया था और उन्होंने भी 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' को अक्षरशः चरितार्थ किया। परमहंस श्री रामकृष्णदेव के बेलूड़-मठ (कलकत्ता) में प्रतिवर्ष परमहंसजी और स्वामी विवेकानन्दजी की जयन्तियाँ तथा पुण्यस्मृति-तिथियों पर वहाँ दरिद्रनारायण को विधिवत् भोजन कराया जाता था। मिशन की शाखा विवेकानन्द-सोसाइटी के विद्वान् संन्यासियों के साथ 'समन्वय'-सम्पादक निरालाजी भी जाया करते थे। उस विराट आयोजन के कार्यक्रमों में निराला केवल दरिद्रनारायण का भोज्य पदार्थ वितरित करने का ही काम अपने जिम्मे लेते थे। कंगालों के खिलाने में उनकी महती लगन देख लोग मुग्ध हो रहते थे। वहाँ अधिकतर बंगीय भद्र समाज ही जुटता था और निराला मातृभाषा की तरह बंगला-भाषा बोलकर समागत समाज को आप्यायित कर देते थे। वह बंगीय समाज में दूध मिसरी की तरह घुल-मिल जाते थे। स्वाभाविक रीति से बंगला बोलने वाला व्यक्ति शीघ्र ही बंगाली बन्धुओं का आत्मीय बन जाता है। अच्छी अंग्रेजी और 'खाँटी' बंगला जानने के कारण ही वहाँ के समाज में भी वह पूर्णतः समादृत थे। बंगभाषा के साहित्य में उनकी पैठ किसी विचक्षण बंगाली से भी कम न थी। उस समाज के लोग आग्रहपूर्वक उनसे कवीन्द्र रवीन्द्र के गीत गवाकर सुनते और तृप्त होते थे।

भगवद्विभूतियाँ उन्हें खूब मिली थीं। आकर्षक रूप लम्बे-तगड़े डीलडौल का शरीर, व्यायाम के अभ्यास से सुगठित स्वास्थ्य विलक्षण प्रभावशाली ललित मनोहर कण्ठ, उदार हृदय चिन्तनशील मस्तिष्क उद्भावना-शक्ति-सम्पन्न बुद्धि—सब-कुछ भगवान् ने उन्हें भरपूर दिया था। बड़ी-बड़ी सुहावनी लुभावनी आँखें चमकती दाड़िम-दशनावली घुँघराली अलकावली मधु मुखविवर, पतले-पतले अधर, पतली-पतली बाँकी भृकु टियाँ प्रशस्त वक्षस्थल हर तरह सिरजनहार ने उन्हें सँवारा था। जिस मण्डली में बैठ जाते थे उसे अपने व्यक्तित्व से जगमगा देते थे। उनकी मुस्कें टकटकी बाँध लेती थीं। कविता-पाठ की भावभंगी मुद्राओं से हृद्गत भावों को उद्दीप्त कर देती थीं। 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता)

से एक बार एक धनी-मानी बंगीय परिवार से उनके विवाह का प्रस्ताव भी आया था। पर वह तो एकपत्नीव्रत थे। उनके पास तो युवती छात्राएँ भी साहित्यिक उद्देश्य से आती थीं। छात्र भी आते थे। पर वह किसी छात्रा से वार्तालाप करते समय आँखें बराबर नहीं करते थे। कामिनी कांचन का त्याग करके वह गृहस्थाश्रम में ही संन्यासी बने रहे। यदि उन दिनों मोहक पदार्थों के प्रति उनके मन में आसक्ति होती तो उन्हें हस्तगत करने वाले गुण उनमें पर्याप्त थे। किन्तु सांसारिक सुखभोगों की वासनाएँ उनकी पत्नी के साथ ही विलीन हो गईं। कंचन की कामना कभी उनके भीतर झाँकने भी न पाई। द्रव्य के लिए उनका मस्तक प्रवाह-सेतु मात्र था। द्रव्य-संचय उनका ध्येय कभी रहा ही नहीं। धन उनके पास अतिथि के समान अल्पावधि तक ही टिकने आता था। अगर हजार आया तो डेढ़ हजार के खर्च का चिट्ठा पहले से तैयार है। अभावग्रस्तों के अभाव उनके दिमाग के दायरे में मँडराते रहते थे। भरपेट खाने के लिए तरसने वाले विद्यार्थियों से लेकर मेहनत-मशक्कत करने वाले मजदूर तक उनकी निगाहों में बसे हुए थे और जब कभी उनके मन माफ़िक अर्थलाभ हो जाता वह तुरन्त उन मरभुक्खों की ओर दौड़ जाते। 'जिनके बरहिं न संपत्ति नाहीं ते नर बर बारे जग माहीं'—उन्हीं थोड़े लोगों में वह भी एक थे।

'मतवाला'-मण्डल में भिखमंगों की समस्या पर और मतवाले में छपे इस विषय के समाचारों या लेखों पर जब कभी बातचीत होती थी यदि निराला वहाँ उपस्थित रहते तो बड़े आवेश में वह अपने युक्तियुक्त तर्क उपस्थित करते। वह देश में फैली हुई आर्थिक विषमता पर वक्तव्य भाषण करते समय उत्कट साम्यवादी प्रतीत होते थे। यद्यपि हृष्ट-पुष्ट भिक्षुकों के प्रति उनकी सहानुभूति भी उन्मुक्त नहीं थी तथापि असमर्थ या अपाहिज भिखारियों की दयनीय दशा के लिए वह शासन और समाज की ही तीव्र आलोचना किया करते थे। लँगड़े लूले अन्धे कोढ़ी और निकम्मे दीन-दुखिया पर ही उनकी दृष्टि अटकती थी फिर तो वह अपनी वास्तविक परिस्थिति को बिल्कुल भूल जाते थे। कलकत्ता-जैसे महानगर की सड़कों की दोनों पटरियों पर वह ढूँढ़ते फिरते थे कि वस्तुतः कौन

बेचारा कैसी दुर्गति में है । उनका अधिकांश अवकाश-काल दीनों की दुनिया में ही बीतता था । बड़ी फुटपाथों पर भिखारियों के सिवा बहुतेरे निराश्रित गरीब और कुली-कबाड़ी भी रात में पड़े रहते हैं । उनके लिए बीड़ी मूढ़ी मूड़ा चना मूँगफली आदि खरीदकर वितरण करने वाला धन कुबेरों की उस महानगरी में निराला के सिवा दूसरा कोई न देखा गया । बड़े-बड़े सेठ धनीमानी रात में भी उन पटरियों पर से गुजरते थे पर कहीं-कहीं कभी दो-चार पैसे फेंकनेवाले भले ही दीख जाएँ, निराला की तरह उन दीनों से आत्मीयता स्थापित करने वाले ढूँढ़े भी नहीं मिल सकते थे । उस महानगर में नाना प्रकार के मनोरंजन के साधन हैं । क्या उन्हें उपलब्ध करने के लिए निराला को पैसों की कमी थी ? किन्तु उनका मनोरंजन तो दीन-दुखियों को सुख पहुँचाने से ही होता था । कोई मित्र उन्हें सिनेमा-थियेटर भले ही ले जाए, उनके पैसे तो भूखे नंगे गरीबों की सेवा में ही लगने पर अपनी सार्थकता समझते थे ।

निराला केवल सड़कों या बाजारों और स्टेशनों के भीतर मिलने वाले दीनजनों पर ही ध्यान नहीं देते थे अपने गाँव और पड़ोस के गरीब गृहस्थों की सहायता का भी ध्यान रखते थे । उनके गाँव और जिले के भी कई आदमी उनकी उदारता या दानशीलता की कहानी सुनकर उनके पास आ धमकते थे । अतिथि भी उनके विचित्र भाँति के होते थे । परिचितों और कुटुम्बियों के अतिरिक्त ऐसे लोग भी कलकत्ता तक दौड़ लगाकर उनका पीछा करते थे जो उनसे किसी-न-किसी प्रकार का लगाव जोड़कर उनके शील-संकोच से काम ऐंठ लेते थे । भोजन के सिवा कपड़े-लत्ते की माँग तो होती ही थी जाते समय राह-खर्च की फरमाइश भी होती थी । देखनेवालों को भले ही यह नागवार मालूम होता हो पर निराला की शान्ति भंग नहीं होती थी । उनकी शान्ति तो तभी भंग होती थी जब किसी अभ्यागत की मदद नहीं कर सकते थे । किसी आदमी को अपने से अनुचित लाभ उठाते देखकर भी उनके मर्म को ठेस नहीं लगती थी । दूसरों के अभाव को अपने ऊपर ओढ़ लेने से भी उनका शान्त-गम्भीर हृदय कभी विचलित होता नहीं देखा गया । अगर कोई कहता भी था कि आप इतना परपंच क्यों पालते हैं ऐसे पर-मुझे

स्वर्गीय आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

बिहार प्रदेश के शाहाबाद जिले में 'ब्रह्मपुर' बहुत प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ फाल्गुनी और वैशाखी शिवरात्रि के अवसर पर बहुत बड़ा मेला होता है। शिवजी का ऐसा विशाल और प्रशस्त मन्दिर बिहार में शायद ही कहीं हो। कहते हैं कि महाकवि तुलसीदास यहाँ आये थे। यहाँ से एक डेढ़ कोस दक्षिण जो 'रघुनाथपुर' नामक गाँव है, उसका नामकरण गोस्वामी तुलसीदासजी ने ही किया था। यह रघुनाथपुर पूर्वीय रेलवे का एक स्टेशन है।

उपर्युक्त ब्रह्मपुर से लगभग एक कोस उत्तर 'सिमरी' नाम का एक बड़ा गाँव है। शास्त्रीजी उसी गाँव के निवासी थे। पर उन्हीं के कथनानुसार वह अपने बालपन में ही जो घर से निकले तो फिर गाँव में कभी बसेरा न लिया। संयोगवश यदा-कदा गाँव आते-जाते थे किन्तु रहे जीवन भर बाहर ही। कहा करते थे "बचपन में मुझे घुड़सवारी का बड़ा शौक था। गधा और खस्सी पर चढ़कर अभ्यास करता था। खेतों में चरते हुए लद्दू टट्टुओं पर चढ़कर घूमना चलता था। तब धूप और वर्षा की भी कुछ परवाह न थी। बचपन का यह अभ्यास सयाना होने पर घुड़सवारी में बड़ा काम आया।"

एक बार पंडित सकलनारायण शर्मा (महामहोपाध्याय) से बात चीत करते समय शास्त्रीजी ने उपर्युक्त बातें बतलाई थीं। शर्माजी ने भी अपने बचपन का किस्सा सुनाते हुए कहा था "मैं तो उठती जवानी तक देहाती रहा बनारस में लस्सी मलाई और रंग उड़ान तक हुरदंगी।"

किन्तु बचपन के ये दोनों घुमक्कड़ आगे के जीवन में संस्कृत के उद्भट विद्वान् हुए। हिन्दी-जगत् में भी दोनों का नाम अमर है।

शास्त्रीजी जब बालक थे तभी उनके मन में विद्यानुराग जाग उठा। वह डुमराँव (शाहाबाद) जाकर वहाँ के राजा की संस्कृत-पाठशाला में पढ़ने लगे। ऐसे प्रतिभाशाली निकले कि दूसरे विद्यार्थी उनसे बड़ी ईर्ष्या करने लगे। पर सहनशीलता उनके स्वभाव की मुख्य विशेषता थी। धैर्य के साथ उन्होंने काशी जाने की योग्यता अर्जित कर ली।

काशी में उन्होंने क्वीन्स कॉलेज में नाम लिखाया। कॉलेज के प्रिंसिपल वेनिस साहब ने उनकी लगन और श्रद्धा से सन्तुष्ट होकर कई अमरीकन और जर्मन छात्रों को संस्कृत सिखाने का काम सौंप दिया। शास्त्रीजी कहा करते थे कि वेनिस साहब तो संस्कृत के अनन्य अनुरागी थे ही संस्कृत सीखनेवाले अंग्रेज और फ्रेंच तथा जर्मन छात्रों में जो तत्परता थी वह भारतीय छात्रों में भी नहीं थी। यूरोपवालों के संस्कृत प्रेम की प्रशंसा वह प्रायः किया करते थे। जिन विदेशी छात्रों को वह संस्कृत पढ़ाते थे उन लोगों ने वेनिस साहब से शास्त्रीजी की अद्भुत अध्ययनासक्ति की बड़ी प्रशंसा की। वेनिस साहब भी उन्हें प्रत्येक कक्षा में सर्वोच्च स्थान पाते देखकर बहुत प्रभावित हुए थे। उनसे शास्त्रीजी को प्रोत्साहन तो मिलता था पर वह कभी उनसे अपने अभावों की चर्चा नहीं करते थे। उन्हें जो छात्रवृत्ति और संस्कृत पढ़ाने का पारिश्रमिक मिलता था उसी से अपना निर्वाह कर लेते थे। डुमराँव अथवा काशी में पढ़ते समय कभी घर से कोई सहायता न माँगी। स्वावलम्बन ही उनका आजीवन व्रत रहा। जब वह अपने अभावों और कष्टों की कहानी सुनाने लगते थे तब उनकी विद्वत्ता और तपस्या देखकर उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा उत्पन्न होती थी।

छात्रावस्था में उन्हें कई बार भूखों रह जाना पड़ा। जाड़े में भी धोती की जगह अँगोछा-मात्र लपेटे, नंगे बदन कम्बल ओढ़े रह जाते। पर किसी दशा में उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ नहीं पसारा। एक बार तो पैसा न रहने पर अपने गाँव से पैदल ही काशी की ओर चल पड़े थे। अभावों और कठिनाइयों को वह ईश्वर की देन कहा करते थे। हर

हालत में सर्वदा प्रसन्न रहना उनका सहज स्वभाव था। दरिद्रता को वह *अपनी जीवनसंगिनी कहते थे जिसका वरण उन्होंने स्वेच्छापूर्वक किया था।*

जहाँ तक मुझे याद है लगभग बावन वर्ष की उम्र में भूकम्प के साथ उनका देहान्त हुआ तो हिन्दी-संसार के प्रतिष्ठित विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से उनका गुणगान किया था। उनके विषय में लोकमत का उतना ऊँचा धरातल देखकर ही समझ में आया कि वह देश की कितनी बड़ी विभूति थे। परन्तु यह संसार कभी गुणपुरुष को जीते-जी नहीं पहचानता।

शास्त्रीजी के काशी के सहपाठियों में स्वनामधन्य पंडित रामावतार शर्मा (महामहोपाध्याय) भी थे। महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री के दोनों ही पट्टशिष्य थे। दोनों ही अपने युग की गौरववृद्धि कर गए। शर्माजी को भी उनके निधन के बाद ही बड़े-से-बड़े विद्वानों ने कपिल-कणाद के तुल्य कहा। यही इस संसार की रीति चली आ रही है। शर्माजी और शास्त्रीजी ने बिहार की धरती पर जन्म लेकर उसे धन्य बनाया पर उसने दोनों अनमोल लालों को ठीक-ठीक नहीं पहचाना। मृत्यु के उपरान्त ही पिण्डदान की तरह कीर्तिगान करने की भी परम्परागत प्रथा है। शास्त्रीजी सच्चे त्यागी-तपस्वी थे यह बात अगर दुनिया निगोड़ी उनके रह जाने से पहले समझ पाती तो शायद उनकी असलियत की पोल खुल जाती।

शास्त्रीजी के सर्वप्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे प्रयाग में प्राप्त हुआ था। 'विद्यार्थी' के सम्पादक पंडित रामजीलाल शर्मा (अब स्वर्गीय) के घर पर बैठे वह कुछ लिख रहे थे। उस समय वह 'शारदा' नामक संस्कृत मासिक पत्रिका के सम्पादक थे। 'समाज' नाम का एक हिन्दी-मासिक पत्र भी निकालते थे। मेरे साथ मेरे मित्र कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन (अब स्वर्गीय) भी थे। जैनजी ने अपने प्रेस-मन्दिर (आरा) से 'प्रेमपत्नी' 'प्रेम पुष्पांजलि' 'त्रिवेणी', नेत्रधर्म आदि सुन्दर पुस्तकें प्रकाशित की थीं। वे पुस्तकें बड़े ही इंडियन प्रेस में बड़े आकर्षक ढंग से छपी थीं उन पर शास्त्रीजी की सम्मति की आवश्यकता थी। शास्त्रीजी उन पुस्तकों को

देखकर हँसते-हँसते कहने लगे "आज बीसवीं शताब्दी के उषःकाल में चारों ओर प्रेम-पुष्पों की सुगन्ध बड़े वेग से फैल रही है—जान पड़ता है कि मध्याह्न होते-होते यह मादक गन्ध नई पीढ़ी को मदान्ध बना देगी—आपको साहित्य-सेवा करने का अनुपम ईश्वर ने दिया है तो रामायण महाभारत आदि को हिन्दी प्रेमियों तक पहुँचाने का प्रयत्न कीजिए।

जैनजी उनका मुँह ताकने लगे। वह (शास्त्रीजी) हर बात कहने में बड़े निर्भीक थे। स्पष्टवादिता भी उनकी एक विशेषता थी। वह जैनजी का हतोत्साह देखकर भी कहते ही रहे, 'मनुष्य को प्रेम सिखाने की आवश्यकता नहीं है वह सांसारिक प्रेम में अत्यन्त निपुण है, उसे परमार्थ और परमात्मा के प्रेम की ओर प्रेरित करने की आवश्यकता है।

जैनजी ने मन्द स्वर में निवेदन किया कि यही सम्मति लिखकर देने की कृपा कीजिए। पर उन्होंने फिर कहा 'अनुचित प्रोत्साहन देने के लिए सम्मति प्रदान करना मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मेरा मत है कि सबसे पहले अपने देश के प्राचीन साहित्य का उद्धार और प्रचार होना चाहिए तथा उसी के आधार पर नये साहित्य की सृष्टि करनी चाहिए, फिर कूपमण्डूकता के दोषारोपण से बचने के लिए अन्यान्य देशों के साहित्य को अपनाना चाहिए। प्रेम और सेवा पर जो साहित्य आपने (जैनजी ने) प्रकाशित किया है उसमें अधिकांश विदेशी सामग्री है। क्या आपको पता है कि भारतीय साहित्य में प्रेम और सेवा पर जो सामग्री मिल सकती है, वह अन्यत्र कहीं नहीं?

जैनजी मौन हो रहे। तब शास्त्रीजी ने मेरा परिचय पूछा। वह यह जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि मैं भी उन्हीं के जिले (शाहाबाद) का निवासी हूँ। उन्होंने यह उपदेश दिया कि हिन्दी-लेखक बनना चाहते हो तो संस्कृत खूब पढ़ो। मैंने जब कहा कि संस्कृत की प्रथमा परीक्षा पास कर चुका हूँ तब बड़े प्यार से हँसकर मेरी पीठ ठोकते हुए बोले कि तुम बड़े भोले जान पड़ते हो। अरे मैं तो साहित्याचार्य होने पर भी यही समझता हूँ कि अभी संस्कृत-महासागर को दूर से ही तरंगित देख रहा हूँ उसमें प्रवेश करना तो दूर, उसके तट तक भी नहीं पहुँचा हूँ।

उनकी यह बात सुनकर मेरा चेहरा उतर गया। मैंने कहा कि मैं

संस्कृत पढ़ना चाहता हूँ। बोले "तुम्हारे ठाट-बाट से संस्कृत पढ़ने के लक्षण नहीं प्रकट होते। तुम बाल सँवारे और पान खाये हुए हो तुम्हारे जूते चमकते हैं, सुनहली कमानी का चश्मा है—ये सब लक्षण संस्कृत सीखने के नहीं हैं। अंग्रेजी-फारसी की तरह संस्कृत नहीं सीखी जा सकती उसके लिए कठोर साधना की आवश्यकता है—संस्कृत के विद्यार्थी को ब्रह्मचारी और संयमी होना चाहिए, वह ऋषियों और स्वामी-तपस्वियों की भाषा है। विलासियों से देववाणी की पटरी नहीं बैठती।"

उनके वे मार्मिक शब्द आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। मैं हत प्रभ हो गया। पहाड़ के पास पहुँचकर ऊँट अपनी ऊँचाई भूल गया।

पंडित रामजीलाल शर्मा आर्यसमाजी थे। वह पहले इंडियन प्रेस में 'सरस्वती' विभाग का काम करते थे। फिर स्वतन्त्र रूप से प्रेस खोलकर 'विद्यार्थी' निकालने लगे और स्वावलम्बी बनकर अपने अध्यवसाय के बल से बहुत उन्नति कर गए। अपने देश के विद्यार्थियों के लिए उन्होंने प्रचुर सत्साहित्य प्रकाशित किया। शास्त्रीजी के बाद वह भी हम दोनों को सीख देने लगे। उन्होंने दयानन्द सरस्वती के आदर्श जीवन से शिक्षा ग्रहण करने की सलाह दी। शास्त्रीजी सनातनधर्मी थे। उनकी स्वाभाविक विनोदप्रियता हुलसी। बोले 'तुम लोग मेरे मित्र शर्माजी की बात मान कर स्वामीजी के आदर्श से अवश्य पाठ सीखो क्योंकि इन्होंने भी स्वामी के सिद्धान्तों के अनुसार कोट-पतलून धारण किया है और एक यवनी युवती की शुद्धि करके उससे विवाह किया है तथा एक अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह कराने के लिए अपने परिवार के एक युवक को प्रेरणा देकर उत्साहित कर रहे हैं। तुम लोगों की वेशभूषा से इनको पता लग गया कि तुम लोग विवाहित हो नहीं तो ये अपना रसायन सिद्ध करने के लिए ठोक-पीटकर वैदराज बना बैठे। आजकल इन्होंने यही धन्धा उठाया है कि मनचले नवयुवकों को देखकर विधवा-विवाह के लिए पथ पर डोरा डालते रहते हैं।

वे दोनों मित्र हँसने लगे और हम दोनों मित्र वहाँ से चल पड़े। बलजी उस समय यमुना के पुल के पासवाले ईसाई मिशनरी कॉलेज में पढ़ रहे थे। उन दिनों उस अमेरिकन मिशन कॉलेज में विद्यार्थियों को

इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वैजनी सिन्धाकफिया-इस्टेट में पुस्तक-प्रकाशन-सम्बन्धी सारा कार्य स्वच्छन्दतापूर्वक करते रहते थे। वह अपनी धुन के बड़े पक्के थे। इन्होंने इंडियन प्रेस के पुराने मालिक बाबू चिन्तामणि घोष के ज्येष्ठ सुपुत्र गौरी बाबू (अब स्वर्गीय) द्वारा पंडित रामऔतार शर्मा को यह लिखवाया कि शास्त्रीजी की सम्मति प्राप्त कराने में सहायक हों। और भी अनेक गुणों का सहारा लिया। किन्तु शास्त्रीजी पर उनके ऐसे गुणों की भी कोई कला न चली।

शास्त्रीजी की सेवा में दूसरी बार उपस्थित होने की घटना पटना में हुई। पटना इसलिए कि इस बार भी अपने एक साहित्यिक मित्र के आग्रह से उनके पास गया। मित्र महाशय ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के मंगलाप्रसाद-पारितोषिक की प्रतियोगिता में अपनी एक पुस्तक भेजी थी जो जाँचने के लिए शास्त्रीजी के पास आई थी। उन दिनों रेलवे लाइन के पास शास्त्रीजी अपने बोधायन आश्रम में रहते थे। सादगी और सफाई से सम्पन्न वह आश्रमतुल्य ही था।

मेरे मित्र को देखते ही वह ताड़ गए। उनकी प्रशंसा का पुल बाँधने लगे। वह भी शास्त्रीजी का भाव भाँप गए। दोनों को आपस में गले लिपटते देख मैं मन-ही-मन हँसकर चुप रहा। शास्त्रीजी उनकी ओर इशारा करके मुझसे कहने लगे "इनके साथ तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता न थी। इनको मैं खूब पहचानता हूँ। इन्होंने पहले कभी मेरी कुटिया को कृतार्थ नहीं किया था आज मेरी झोंपड़ी पवित्र हुई—भगवान् ही इनका मनोरथ सफल करेंगे।

इसके बाद शास्त्रीजी ने मुझे अलग ले जाकर चेतावनी दी कि फिर कभी ऐसी मूर्खता न करना—मैं कभी किसी की सिफारिश नहीं सुनता। मंगलाप्रसाद-पारितोषिक की मर्यादा तुम नहीं समझते। चाटुकार को उसी के अनुरूप पुरस्कार मिलता है। तुम अपने मित्र को समझा दो कि अपने भाग्य पर भरोसा करें अपनी योग्यता पर नहीं।

मेरे मित्र ने रास्ते में एकान्त की बात पूछी और मैंने कह भी दी। वह बिगड़ तो थे ही शास्त्रीजी के कथन का औचित्य समझ पश्चात्ताप करने लगे।

तीसरी बार शास्त्रीजी 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में स्वयं पधारे। नंगे बदन, कम्बल ओढ़े प्रातःकाल पहुँचे। अपनी लिखी हुई पुस्तक 'दरिद्र कथा' की पाण्डुलिपि भी साथ ले गए थे। उसे स्वयं छपवाना चाहते थे। एक कलकतिया प्रकाशक ने उसे प्रकाशित करने का उन्हें वचन दिया था पर उसने विवशता प्रकट कर दी। शास्त्रीजी कहने लगे—आज भोर होते ही एक कृपण का मुँह देखा था, इसलिए जहाँ आशा पूरी होनेवाली थी, वहीं मैं नकार का शिकार हो गया, और वहीं पर मैंने उस नकारने-वाले तथा शिकार होनेवाले अपने-आपको नमस्कार किया, क्योंकि मुझ जैसे गरीब को नकार सुनानेवाला तो नमन के योग्य है ही, उसके समान नमस्य के नकार का शिकार होनेवाला मैं भी नमस्य ही हूँ। इसी कारण मैंने वहीं 'शिवपंचाक्षर-स्तोत्र' के दो श्लोक उसके सामने ही सुनाकर अपनी ग्लानि व्यक्त कर दी—

नागेन्द्रहाराय त्रिलोचनाय
भस्माङ्गरागाय महेश्वराय।
नित्याय शुद्धाय दिगम्बराय
तस्मै नकाराय नमः शिवाय॥

शिवाय गौरीवदनाब्जवृन्दसूर्याय दक्षाध्वरनाशकाय।
श्रीनीलकण्ठाय वृषध्वजाय तस्मै शिकाराय नमः शिवाय॥

अब इस 'दरिद्र-कथा' को 'चन्द्रशेखराय' संकल्प करके स्वयं ही प्रकाशित करने का दृढ़ निश्चय किया है। चाहता हूँ कि इस छोटी-सी पुस्तक को एक ही सप्ताह में छपवाकर उसे धन-मदान्ध प्रकाशक के पास पठा दूँ—वह भी एक दरिद्र ब्राह्मण का साहस देख ले।"

सचमुच उन्होंने पुस्तक की पाँच प्रतियाँ उस प्रकाशक के पास यह लिखकर भिजवाईं, "आपके नकार को दूर से ही नमस्कार।"

जब मैं काशी में रहता था तब शास्त्रीजी भी वहीं थे। वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी-अनुवाद कर रहे थे। वहीं के एक प्रकाशक ने उसे सात खण्डों में निकाला था। उन्होंने श्रीमद्भागवत और महाभारत का भी हिन्दी-अनुवाद किया था परन्तु पूरा न कर सके। रामायण की तरह महाभारत में भी मूल के साथ अनुवाद छपा था। महाभारत को मासिक

खण्डों के रूप में स्वयं प्रकाशित करते थे। मैं भी उसका ग्राहक था। उनके निधन के बाद उनके ज्येष्ठ सुपुत्र पंडित प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'जी भी महाभारत को उसी रूप में फिर कुछ दिनों तक निकालते रहे। वह काफी पूँजीवाला काम था। शास्त्रीजी ने अपनी गृहस्थी को साधन सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से कभी द्रव्य-संग्रह पर ध्यान ही नहीं दिया। त्यागी तो उनके सदृश हिन्दी-जगत् में कम ही हुए। त्याग और तप ही उनका असली बाना था।

एक बार उन्हें रोग-शय्या पर देखने के लिए स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आये और चुपके-से कुछ गिन्नियाँ उनके सिरहाने तकिये के नीचे रख गए। शास्त्रीजी को पता चला तो तुरन्त स्वामीजी के पास सधन्यवाद लौटा दीं। अपने अभावों की पूर्ति के लिए उन्होंने कभी किसी मित्र की भी आर्थिक सहायता न चाही और न ली। ऐसी बात वह सोचते तक न थे। प्रयाग में जब अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-मन्त्री थे तब अपने दूरस्थ आवासगृह से सम्मेलन-कार्यालय तक आने-जाने के लिए कभी इक्का-भाड़ा नहीं लेते थे। यद्यपि टण्डनजी उनको भाई मानते-कहते थे पर टण्डनजी के आग्रह से भी वह अपने सिद्धान्त को लचने नहीं देते थे। वह अपनी स्थिति को प्रभु की देन समझ कर उसमें सन्तुष्ट ही रहे। आजीवन परिस्थितियों से सहर्ष संघर्ष करते रह गए। कठिनाइयों से जूझते समय भी उनके चेहरे पर कभी विषाद की रेखा नहीं खिंच पाई। काशी में चौखम्भा के पास मोतीकटरा में उनके निवास-स्थान पर एक रात मैं मिलने गया तो वह मिट्टी तेल की ढिबरी जलाकर अम्बाली मौन पड़े थे। मुझे देखकर हँसते-हँसते पूछने लगे 'सुमन कभी यह सुकर्म किया है या नहीं? सद्गृहस्थ का पारिवारिक सेवा में संकोच न होना चाहिए, गुरुजनों के समीप रहकर संस्कृत पढ़े बिना यह सेवा-यथार्थ अभ्यस्त नहीं हो सकती। तुम्हारे हिन्दीवाले आज कल स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा कर रहे हैं—पत्र-पत्रिकाओं में भाँति-भाँति की भावभंगी से भरे चित्र छप रहे हैं कोई नाचती है, कोई नटी है, कोई सोई है कोई हँसती है, कोई प्रतीक्षा करती है, कोई वीणा बजाती है, कोई

अभिसार करती है—क्या यह मियाँ का रीतिकाल है या भगवद्गीता के मिथ्या-प्रचार का मूर्तरूप है ?"

शास्त्रीजी के सरस विनोद बड़े आनन्ददायक होते थे। बातें करते समय दूसरों को 'मालिक' और अपने को 'भगवान्' शब्द से अभिहित करते थे "कहिए मालिक आज 'भगवान' का एक काम कर दीजिएगा !'

पण्डित लक्ष्मीनारायण शर्मा और पण्डित हरिप्रसाद शर्मा के बाद शास्त्रीजी ही खड्गविलास प्रेस (पटना) की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' के सम्पादक हुए थे। उनकी 'भरतचरित' नामक पुस्तक उसी प्रेस से प्रकाशित हुई थी। उस प्रेस के स्वामी और 'शिक्षा' के संचालक राय बहादुर रामरणविजयसिंह (बबुआजी) उनका बड़ा सम्मान करते थे। उनकी निस्पृहता और चिरप्रसन्नता सबसे बरबस उनका आदर कराती थी। वह सच्चे अर्थ में एक मस्तमौला फकीर थे। नितान्त निरभिमान होते हुए भी सदा स्वाभिमान एवं सन्तोष के साथ दुर्दिन को झेलते रहना उनका जन्मजात गुण था। उनकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता किसी के खिजे रहने की परवाह नहीं करती थी। अभावों के थपेड़े उनके धैर्य को कभी डिगा न सके। एक बार महाशक्ति प्रेस (काशी) में प्रसिद्ध कथाकार कौशिकजी से बातें करते समय उन्होंने हँसकर कहा था कि कवि-माइयाँ-भामिनियाँ अपने पादमंजीर की रुनझुन मुझे सुनाती रहती हैं तो कौशिकजी मौन होकर उनका प्रफुल्लित मुखड़ा घूरने लगे और चल जाने पर इस वाक्य को दुहराते हुए झूमने लगे।

जब मैं प्रयाग के इंडियन प्रेस की अतिथिशाला में रहकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ छपवाता था शास्त्रीजी से उस ग्रन्थ के लिए एक लेख माँगने गया। उन्होंने पूज्य आचार्य (द्विवेदीजी) की साहित्य-सेवा और संस्कृतज्ञता तथा उनकी पुस्तक 'कालिदास' की निरंकुशता पर अपने प्रशंसात्मक और समीक्षात्मक विचार व्यक्त करते हुए एक संस्मरणात्मक लेख लिखने का वचन दिया। मैंने लेख लेने के लिए फिर आने का समय पूछा तो हँसकर बोले कि अपनी श्रद्धांजलि लेकर मैं ही स्वयं आऊँगा और सचमुच दूसरे ही दिन आये भी। लेख उनका छोटा ही था—'द्विवेदीजी की एकनिष्ठ साधना'—पर

उसे देखकर 'सरस्वती'-सम्पादक पंडित देवीदत्त शुक्ल कहने लगे कि अंग में जैसे केसर की भीनी-भीनी सुगन्ध बोलती है, वैसे ही शास्त्रीजी के लेख के शीर्षक में उनकी 'एकनिष्ठ' साधना बोल रही है। अब जान पड़ता है कि वही साधना का युग लद गया।

शास्त्रीजी संस्कृत-शिक्षा के ह्रास पर प्रायः क्षोभ और चिन्ता प्रकट किया करते थे। कई विश्वविद्यालयों (पटना, काशी, प्रयाग आदि) में वह संस्कृत की उच्चतम परीक्षाओं के परीक्षक थे। उत्तर-पुस्तिकाएँ देखकर झुंझला उठते थे। 'सारन' और 'शिक्षा' में इस विषय के कई लेख उन्होंने लिखे थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाएँ बहुत सरल लिखते थे। रामायण-महाभारत की टीकाएँ भी सुगम भाषा में लिखी हैं। वह मनसा-वाचा-कर्मणा सरलता आज भी स्मृति को पुलकित और सिर को श्रद्धावनत करती है।[1]

---

1. लेखन : अक्टूबर-नवम्बर १९५६
प्रकाशन : नवम्बर, १९५६—मासिक 'ज्योत्स्ना' (शास्त्री अंक), पटना।

स्वर्गीय कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय

राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक विशेषता यह भी है कि उसके साहित्य-सेवियों में भारत के अहिन्दी भाषी प्रान्तों के विद्वानों के नाम भी मिलते हैं। दक्षिणी मराठी गुजराती बंगाली पंजाबी उड़िया आसमिया आदि प्रमुख भारतीय भाषाओं के विद्वान् पहले भी हिन्दी-सेवा कर चुके हैं और आज भी कर रहे हैं। यहाँ प्रसंगवश केवल बंगभाषा-भाषी हिन्दी-सेवकों के सादर स्मरण से ही प्रयोजन है।

बंगाली हिन्दी-लेखकों में नवीनचन्द्र राय पंडित ब्रजरत्न भट्टाचार्य श्रीमती बंगमहिला बाबू गिरिजाकुमार घोष पंडित अमृतलाल चक्रवर्ती बाबू द्वारकानाथ मैत्र श्री मणिनमोहन सेन डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि के नाम हिन्दी के साहित्यिक इतिहासों में प्रकरणानुसार पाए जाते हैं। साहित्यमर्मज्ञ सज्जन उनकी साहित्य-सेवा से परिचित भी हैं।

बिहार में भी अतीत युग में बंगाली हिन्दी-लेखक हुए हैं और आज भी हैं। पं० भूदेव मुखोपाध्याय एम० ए० आज तक हिन्दी-साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। 'माधुरी' (लखनऊ) में छपे उनके कई निबन्ध उनकी विद्वत्ता के प्रमाण हैं। ऐसे बंगभाषी साहित्यकारों का उल्लेख न यहाँ सम्भव है, न अभीष्ट ही।

कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय छपरा (सारन) के निवासी थे। उनके पूर्वज अठारहवीं सदी में ही बिहार आये थे। उनके पितृव्य श्री भवानी चरण मुखोपाध्याय ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में छपरा से 'सारन सरोज' नामक हिन्दी-मासिक पत्र निकाला था जिसके सम्पादक स्वनाम धन्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास थे। इस प्रकार उनको अपनी वंश-परम्परा से ही हिन्दी-प्रेम प्राप्त हुआ था। मुझे अपने कलकत्ता-प्रवास के समय

उनके साहचर्य का सुख-सौभाग्य प्राप्त था। वह वहाँ 'भारत-मित्र' 'हिन्दू पंच' 'विजय' 'दारोगा-दफ्तर' 'बाँसुरी' आदि पत्रों के सम्पादन का काम करते रहे। कहीं सहकारी रहे और कहीं प्रधान। 'पंच' के प्रधान सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के आकस्मिक निधन के बाद वही उनके स्थान पर काम करने लगे। दफ्तर के तो वही मुख्य सम्पादक थे।

जिस समय वह श्री बैजनाथ केडिया के वणिक प्रेस में साप्ताहिक 'विजय' का सम्पादन करते थे उस समय मैं भी उसी प्रेस के सचित्र मासिक पत्र 'उपन्यास तरंग' का सम्पादक था। सन्ध्या अवकाश होने पर आग्रहपूर्वक अपने घर ले जाते और स्वयं 'चमचम' तरकारी तथा आलू भुना वस्ता परांठे बनाकर खिलाते। पान खाने और बनाने के भी बड़े शौकीन थे। पान की सेवा करने में उनकी जैसी लगन थी वैसी केवल पं० किशोरीलाल गोस्वामी में ही देखने में आई। प्रातःकालीन स्नान ध्यान के बाद सबसे पहले पान और उसके मसाले के सुधारने-सँवारने में ही लग जाते थे। बीड़े से मुख लिप्त होकर ही लिखने-पढ़ने बैठते थे।

पाण्डुलिपि और प्रूफ के संशोधन में वह घोर परिश्रम करते थे। इन कामों में वह अत्यन्त निपुण माने जाते थे। यों तो वह अनेक कामों में थे। रसोई बनाने से लेकर सुगन्धित तेल और साबुन बनाने तक में उनकी कुशलता देख दंग रह जाना पड़ता था। घर पर उनसे सुन्दर कागज और दफ्ती बनाना, जड़ी-बूटियों की वाटिका में तरह-तरह के पौधे लगाना, नाना प्रकार के औषध तैयार करना, मिट्टी के खिलौने गढ़ना आदि उनके घरेलू उद्योग-धन्धे थे। अनेक प्रकार की चमत्कारी विद्या वह जानते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में अपने घर रहते समय गृहकुटीर उद्योग ही उनकी जीविका का आधार था। कितनी ही स्वदेशी प्रदर्शनियों में वह कुटीर-शिल्प की वस्तुएँ सजाने और प्रदर्शित करने के लिए बुलाए जाते थे। उनके हस्त-कला-कौशल का यथेष्ट विवरण देना सम्भव नहीं है।

कलकत्ता में रहते समय तो उनके सत्संग के अवसर मिलते ही रहे, जब मैं जगत् धर्मेन्द्र कॉलेज में था तब भी उनसे बराबर मिलना-जुलना रहा क्योंकि मेरा और उनका निवास-स्थान पास-ही-पास था—मेरा रत्नपुरा में और उनका काशीबाड़ी में। उनके घर में भगवती दुर्गाजी का मन्दिर

था इसलिए कालीबाड़ी कहलाता था। उनके दरवाजे पर रामबाग का विश्राम रथ है। मैंने एक बार पूछा तो बोले कि मेरे आँगन का यह काली-मन्दिर और सम्मुख रथ मेरा पातक वन है। उनके पूर्वजों में कई ऐसे सिद्ध पुरुष हो चुके थे जिन्होंने तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि से समाज में बड़ी प्रतिष्ठा और सम्पत्ति अर्जित की थी।

उनका शारीरिक सौन्दर्य बड़ा आकर्षक था। उनकी रमणीय मुखाकृति और बड़ी-बड़ी आँखें दर्शनानन्दवर्धक थीं। 'हिन्दू पंच' कार्यालय में पं० ईश्वरीप्रसादजी उनसे मजाक में कहा करते थे कि ब्रह्मा ने संसार में आपके मनोहर रूप को पुरुषावरण में भेजकर बहुतेरों को प्रेम-संकट से बचा लिया नहीं तो राह चलते कितनी ही दुर्घटनाएँ हो जातीं। सच पूछिए तो उनका हृदय और स्वभाव उनके रूप से भी अधिक सुन्दर था। वह केवल अपने सहकर्मियों के ही सुहृद न थे जो कोई उनके सम्पर्क में आता वह उनकी विनयशीलता और मिलनसारी से प्रभावित हुए बिना न रहता।

उन्होंने लगभग तीस वर्ष तक नियमित रूप से हिन्दी-सेवा का व्रत निबाहा। लगभग तीन दर्जन पुस्तकें भी लिखीं जिनमें इतिहास जीवनी पौराणिक आख्यान साग भाजी की खेती दस्तकारी कथा-साहित्य आदि अनेक विषय सम्मिलित हैं। अंग्रेजी और बंगला से हिन्दी-अनुवाद करने में वह बड़े सिद्धहस्त थे। श्री रामलाल वर्मा ने अपनी वर्मन कम्पनी से 'लन्दन-रहस्य' नामक पुस्तकमाला बड़ी सजधज से प्रकाशित की थी। उसके कई भागों का अनुवाद कार्तिक बाबू ने अंग्रेजी से ही किया था। उनकी पुस्तकों में अधिकांश उक्त कम्पनी से ही प्रकाशित हैं। 'दारोगा दफ्तर' जासूसी मासिक पत्र था। उसके लिए तो उन्हें सर्वदा अंग्रेजी और बंगला से ही अनुवाद करके मसाला जुटाना पड़ता था। इन दोनों भाषाओं के कई जासूसी और रोमांचक उपन्यासों का भी उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया था जो अधिकतर उक्त कम्पनी से ही निकले थे। 'हिन्दू पंच' 'विजय' 'माधुरी' आदि स्वसम्पादित पत्रों के लिए वह जो सम्पादकीय अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखते थे उनमें भी सामयिक राजनीति की समस्याओं पर बड़ी निर्भीकता से अपने विचार व्यक्त करते थे।

उनके लिखे अक्षर बड़े सुडौल और सुवाच्य होते थे। अर्जित धन के सदुपयोग की भावना से ही वह मितव्ययी थे। घर में ही लिफाफा निब स्याहीसोख कागज चिट्ठी लिखने का कागज कलम कपड़े रंगने के रंग आदि बना लेते थे। साहित्य शिल्पी थे ही अनेक उपयोगी कलाओं की वस्तुओं के भी शिल्पी थे। ऐसे प्रवीण कलाकारों की कीर्ति रक्षा की उपेक्षा हिन्दी के लिए बड़ी हितघाती सिद्ध होगी।[1]

---

१. लेखन १५ अक्तूबर १९५०।
प्रकाशन अक्तूबर १९५०—साप्ताहिक 'युगान्तर' (दीपावली विशेषांक), झरिया (बिहार)।

एक बार की बात है कि पंडित रूपनारायण पाण्डेयजी को मिश्रजी ने एक देहाती नौकर ला दिया था। उसके विषय में एक दिन पाण्डेयजी से मिश्रजी ने पूछा कि कैसा काम करता है। पाण्डेयजी बोले 'वह (नौकर) तो मेरे तलवे में तेल-मालिश करते समय सितार बजाता है सितार की घुण्डियों पर अँगुलियाँ नचाने की तरह मेरे तलवे में धीरे धीरे गुदगुदाता भर है। मेरी तो तबीयत नपुंसक पति की युवती सुन्दरी पत्नी की तरह झुंझला उठती है। इस पर भी मिश्रजी उसी दिन की तरह इतना हँसे कि सामने की मेज भी पीक की बौछार से न बच सकी। पाण्डेयजी सदा अपने घर पर रहकर ही सम्पादन-कार्य करते थे पर जब कभी कार्यालय में आते थे मिश्रजी के साथ कुछ हास विनोद कर ही बैठते थे। दोनों ही सरस-हृदय साहित्य रसिक थे अतः उन दोनों के आस-पास के लोग भी उनके द्वारा सदा आनन्द का ही अनुभव करते थे।

एक बार तो मिश्रजी इतना अधिक हँसे कि दुर्घटना हो गई। हँसते हँसते आँखों को पोंछने के लिए चश्मा उतारकर रूमाल से उसे साफ करने लगे। इतने में हँसी के वेग से हिलते हुए हाथों से चश्मा छूटकर फर्श पर जा गिरा और चूर हो गया। तब भी कुर्सी पर उनकी देह हिल डुल रही थी। हम हँसनेवाले तो अकचकाकर मौन हो रहे।

बात ऐसी हुई कि बातचीत के सिलसिले में एक शब्द पैदा आ गया जिसका अर्थ सुनकर मिश्रजी खुले दिल से हँसने लग गए। 'माधुरी' कार्यालय अमीनाबाद पार्क से लाटूश रोड में चला गया। वहाँ सम्पादन विभाग में प्रेमचन्दजी भी काशी से आ गए। उनसे मिलने के लिए उर्दू के साहित्य-सेवी प्रायः आते रहते थे। एक नौजवान शायर उस दिन आ गए, जो बड़े खूबसूरत और शौकीन भी थे। उनके चले जाने पर पं० बिहारीलालजी गुजराती ने प्रेमचन्दजी को उनका परिचय दिया जिससे प्रेमचन्दजी भी अट्टहास कर उठे।

गुजरातीजी पुस्तक प्रचारक थे। बातें करने की कला में बड़े निपुण थे। गर्मियों में मसूरी नैनीताल शिमला आदि पहाड़ी नगरों में ही अड्डा जमाए रहते थे। राजा-रईसों और ताल्लुकेदारों का दरबार करके उन्हें कहानी-उपन्यास की पुस्तकें पढ़ने को देना उनका खास काम था। उनकी

सज्जनकी ज़बान और सज्जनकी तबीयत रईसों तथा सेठों को बरबस खिंचा लेती थी। इसी हुनर की बदौलत वह पुस्तक-प्रचार में काफ़ी सफलता पा चुके थे। पहाड़ी नगरों में सैर करने के लिए आनेवाले धनी गोरी मेमों के बारे में वह तरह-तरह के किस्से सुनाया करते थे।

उस दिन सुकरातीजी ने जो मनचले शायर का किस्सा सुनाया उसका सम्बन्ध एक नवाब साहब से भी था। वही उसके नायक थे। उस किस्से में आये हुए 'हुपेली-टेई' शब्द पर ही प्रेमचन्दजी ठठाकर हँस पड़े थे। उस क्षण तक मिश्रजी की ओर हँसी की लहर नहीं आई थी। जब प्रेमचन्दजी की प्रेरणा से सुकरातीजी ने उस शब्द की व्याख्या सुनाई तब शब्दार्थ का भाव समझकर वह हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। उसी हँसी के फ़व्वारे में जलसा बरख़ास्त हुआ।

मिश्रजी को सभ्यता और शिष्टता का बहुत ख्याल रहता था। वह पद-पद पर सौजन्य की मर्यादा का पालन करने में तत्पर दीखते थे। वह कभी फक्कड़ बात नहीं करते थे। हँसते भी थे तो मर्यादित ढंग से। चलते भी थे तो रईसी चाल। उनके किसी काम में उतावली नहीं थी। संयत भाव से ही सब काम करते थे।

मिश्रजी सीतापुर (अवध) जिले के सिधौली नामक स्थान के निवासी थे। उनके पूर्वज सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह में लखनऊ से वहाँ जा बसे थे। मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के तृतीय भाग में मिश्रजी के पूर्वजों का वृत्तान्त लिखा है। मिश्रजी अपनी वंश-परम्परागत परिपाटियों की रक्षा करते रहने में बड़े सजग रहा करते थे। पहले उन्होंने सीतापुर में वकालत भी शुरू की थी पर साहित्य-सेवा में बाधा पड़ते देख वह एकमात्र साहित्य के ही हो रहे। उनको नौकरी करने की आवश्यकता भी न थी। घर पर काफ़ी स्थावर सम्पत्ति थी। सुन्दर मकान और आम का कलमी बाग था। लखनऊ में जब मलीहाबादी और सफ़ेदा आमों की फ़सल चलती थी तब वह अपने मित्रों को भी अपने बाग के मीठे आम खाने को आमन्त्रित करते थे। उनका निवास-स्थान एक ताल्लुकेदार की रियासत का ठाट-बाट प्रदर्शित करता था। पण्डित रूपनारायण पाण्डेय और भी

पदाधिकारी थे। वह मुझसे नागराक्षर में लिखने के लिए कुछ काम दिया करते थे। उसके लिए पैसे भी दिलवाते। दफ्तर में भी रोज की बाहरी आमदनी से कुछ हिस्सा मिलता ही था। उन दिनों कचहरी (अरदली बाजार) से कम्पनी बाग (ना० प्र० सभा) तक या बेनिया-बाग (गोवर्धन सराय) तक की सवारी एक-डेढ़ आना एक्का-भाड़ा लगता था। मैं दोनों जगहों का चक्कर काटा करता। जान-पहचान तो किसी से थी नहीं। दूर से ही बाबू श्यामसुन्दरदास को 'सभा' में देख लेता और कभी 'प्रसादजी' को भी उनके घर जाकर। अपना परिचय मैं कैसे देता? संकोच के मारे साहस न होता था।

मैं रहता था मछरी मुहल्ले में—कचहरी से थोड़ी ही दूर—उपर्युक्त मुनसरिम साहब के घर पर। मेरे बड़े भाई ने व्यवस्था करा दी थी। वहीं पं० अम्बिकाप्रसाद वैद्य भी रहते थे। वह मिर्जापुर के निवासी थे। वह प्रायः भारतेन्दु-तथा प्रेमघनजी की चर्चा किया करते थे। वह साहित्यिक न होने पर भी साहित्यानुरागी होने के कारण प्रसादजी को भी जानते थे। मुनसरिम साहब विश्वविख्यात ज्योतिषाचार्य पं० सुधाकर द्विवेदी के गोतिया दामाद थे। इसलिए वैद्यजी कभी-कभी ज्योतिषीजी के घर से हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ लाया करते थे। उन्हें मैं रातों-रात पढ़ डालता था। 'सभा' के वाचनालय में थोड़ी ही देर ठहरने का समय मिलता था क्योंकि बासा बहुत दूर था अतः पढ़ने की भूख नहीं मिटती थी।

मैं आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा में ही 'इन्दु' देख चुका था। सम्भवतः वह सन् १९१० से ही निकला था। उन दिनों उसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। काशी में रहते समय 'इन्दु'-कार्यालय देखने की बड़ी उत्कण्ठा हुई। 'सभा' के वाचनालय में एक पाठक से परिचय हुआ। उनका नाम अब याद नहीं। वही पथ-प्रदर्शक बने। उस समय मन में विचित्र कुतूहल था। दर्शनोत्कण्ठा के सिवा कोई कामना न थी। पूर्वोक्त श्री राधाकृष्ण की प्रेरणा से 'प्रसादजी' का घर देख चुका था। किसी दिन 'सभा' की ओर न जाकर 'प्रसादजी' के घर की ही परिक्रमा कर आता था। उस समय पं० रूपनारायण पाण्डेयजी भी 'प्रसादजी' के यहाँ रहते थे। वह भारत-धर्म

महामण्डल की मासिक पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का सम्पादन करते थे। उनको भी पहले-पहल वहीं देखा।[1]

२

राष्ट्रभाषा हिन्दी के आधुनिक महाकवियों में काशी के श्री जयशंकर 'प्रसाद' का विशिष्ट स्थान है। कवि के अतिरिक्त वह नाटककार, कथाकार, निबन्धकार और उपन्यासकार भी बड़ी उच्चकोटि के थे। साहित्य की इन शाखाओं को पल्लवान्वित और पुष्प-फल-सम्पन्न करके इन्हें अपने रक्त-शोषण से भी सिंचित किया। गद्य और पद्य दोनों में उनकी भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ है। उनकी सभी रचनाओं में भारतीय संस्कृति की सत्ता-महत्ता झलकती है। वह ऐसे कला-कुशल शब्द-शिल्पी थे कि उनके गद्य में काव्य की छटा दीख पड़ती है। भारतीय सभ्यता के प्रति उनकी सहज स्वाभाविक ममता थी। उनकी कितनी ही रचनाएँ भारतीय विश्वविद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों के रूप में नई पीढ़ी के लिए अध्ययन-अनुशीलन का माध्यम बनी हुई हैं। जैसे कविताओं में उनकी सुकुमार भावनाएँ और कमनीय कल्पनाएँ उनकी गम्भीर चिन्तनशीलता तथा काव्य रसधारा में उनकी तल्लीनता का परिचय देती हैं वैसे ही उनकी गद्य-शैली में ठौर-ठौर हृदयग्राहिणी सूक्तियाँ भी मिलती हैं। उनकी प्रतिभा के प्रसाद से हिन्दी बहुत अधिक गौरवान्वित हुई। किन्तु जिस व्यक्ति ने साहित्य को ऐसा महिमा-मण्डित किया वही अपने जीवनकाल में हिन्दी के हिमायती कहे जाने वालों से लांछित और तिरस्कृत भी हुआ। इस निर्मम जगत् की यही परम्परागत रीति है।

'प्रसादजी' महान् साहित्यकार के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ थे। उनकी स्मृति-शक्ति विलक्षण थी। उनमें स्वजातीय गुण भी पर्याप्त मात्रा

---

१. मूल शीर्षक : 'कविवर प्रसाद जी के संस्मरण'।
रविवार १६ जनवरी, १९५५।
(आर्यावर्त, पटना)।

में था। वह अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे। काशी की विशेषताओं के भी विशेषज्ञ थे। विभिन्न व्यवसायों की पारिभाषिक शब्दावली का भण्डार उनके पास भरपूर था। वैदिक वाङ्मय और प्राचीन इतिहास में उनकी गहरी पैठ थी। संस्कृत-साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का अध्ययन-मनन करने में तो वह निरन्तर तत्पर रहते ही थे, कई भारतीय शास्त्रों में भी उनकी बड़ी गहन गति थी। अपने पैतृक व्यापार में वह पूरे दक्ष थे। विद्याव्यसनी ऐसे थे कि जब सारा संसार निद्रा-निमग्न हो जाता था तब उनको स्वाध्याय में तन्मय होने का अवकाश मिलता था।

बनारस चौक की कोतवाली के पीछे मस्जिद के सामने नारियली बाजार में उनकी लगभग सवा सौ वर्ष की पुरानी दुकान जर्दा सुर्ती की है। उनके सामने के तख्ते पर सफेदा बिछवाकर वह प्रायः नित्य सन्ध्योपरान्त रात्रि में बैठते थे। उसी पर एक कोने में पानवाला भी अपनी चंगेली लिये बैठता था। उनके बीड़े और दुकान के जाफरानी जर्दे का दौर लगभग दस-ग्यारह बजे रात तक चलता रहता था। हिन्दी-साहित्य के बड़े-बड़े धुरन्धर महारथी वहीं आकर उनसे काव्य-शास्त्र-विनोदेन समय-यापन करते थे। हिन्दी-संसार के सुप्रसिद्ध कलाविद् रायकृष्णदासजी श्री प्रेमचन्द, महाकवि रत्नाकर, अध्यापक लाला भगवानदीन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि महानुभाव वहीं प्रायः आसन ग्रहण करके साहित्य की शास्त्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श और भाव-विनिमय करते थे। रायसाहब प्राचीन भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर, लाला भगवानदीन शब्दों की व्युत्पत्ति और निरुक्ति पर, रत्नाकरजी ब्रजभाषा-साहित्य की बारीकियों पर, आचार्य शुक्लजी संस्कृत-साहित्य की विविध प्रवृत्तियों पर तथा प्रेमचन्दजी कथा-साहित्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर जब बातें करने लगते थे तब 'प्रसाद' जी की सरस्वती का मुखर होना देखकर चकित रह जाना पड़ता था।

वैदिक ऋचाएँ और उपनिषदों के लम्बोदार वाक्य तो उन्हें कण्ठस्थ थे ही, संस्कृत-महाकवियों ने किस शब्द का कहाँ किस अर्थ में कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है, इसको भी वह सोदाहरण उपस्थित करते चलते थे। शालिहोत्र और आयुर्वेद-शास्त्रों के महत्त्वपूर्ण प्रकरणों पर

उनके प्रवचन सुनने से उनके विस्तृत ज्ञान पर आश्चर्य होता था। हाथी घोड़ा गाय आदि के लक्षणों की परख और उनके स्वामियों पर उनके शुभाशुभ लक्षणों के अनिवार्य प्रभाव का वर्णन उनसे सुनने पर एक अत्यन्त रोचक और विस्मयकारी प्रसंग उपस्थित हो जाता था। इसी प्रकार हीरा मोती मूंगा आदि रत्नों के गुण-दोषों के प्रभाव का वर्णन भी शास्त्रीय प्रमाणों के साथ करते थे। एतद्विषयक ग्रन्थों के मौखिक उद्धरण सुनकर उनकी स्मरण-शक्ति की प्रखरता पर बड़ा कुतूहल होता था।

'प्रसाद' की हलवाई-वैद्य थे। अपने हाथों बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाते थे। भोज आदि में यदि एक सौ अतिथियों को भोजन कराना है तो बादाम और पिस्ते की बर्फी बनवाने में कितना मेवा और खोवा कितनी चीनी और केसर इलायची पड़ेगी इसका चिट्ठा भी तैयार करा [illegible] थे और हलवाई ही बोलकर लिखवाते थे। इसी तरह और-और मिठाइयों के सामान की मिकदार बतला देते थे। मोटामी सौदागर जब सिरा चीज पहाड़ी शहद, कस्तूरी आदि बेचने आते थे तब उनकी चीजों की परीक्षा करने में अद्भुत कौशल का परिचय देते थे। भंग-बूटी तो स्वयं बहुत अच्छी बनाते और मित्रों को पिलाते थे। अपने घरेलू व्यवसाय के लिए वहाँ किमाम इत्र आदि भी अपनी देख-रेख में बनवाते थे। अधिक तर देसी रजवाड़े और जमींदार रईस ही उनके बँधे ग्राहक थे। किमाम और इत्र के तैयार होने पर छोटी-सी शीशी में अन्तरंगी मित्रों को प्रेमोपहार भी दिया करते थे। जाड़े में जो मुश्क अम्बर (कस्तूरी का इत्र) बनाते थे वह लिहाफ में लगने पर पूस-माघ के जाड़े में भी पसीना पैदा करके अपना कमाल दिखाता था। उत्तम श्रेणी का किमाम भी वैसा ही जौहर दिखाता था। बीड़े पर सींक से उसकी लकीर खींच देने से जाड़े की रात में भी ललाट पर पसीना आ जाता था और गरम पोशाक उतार देनी पड़ती थी। जड़ी-बूटियों और जड़ी-बूटियों के गुणों को बतलाते समय वैद्यक ग्रन्थों के श्लोक पढ़ने लगते थे तो वैद्यराज ही प्रतीत होते थे।

बनारस के पुराने रईसों पंडितों गवय्यों राजनीतिज्ञों भक्तों

नायिकाओं और कत्थकों की बहुत सी अद्भुत कहानियाँ सुनाया करते थे जो मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी होती थीं और जिनसे पता चलता था कि उस अतीत युग के गुणी और कलावन्त कितने उदार तथा निष्ठावान होते थे। रईसों की अमीरमिज़ाजी, गवैयों का स्वाभि… मान, नर्तकों की नृत्य-निपुणता, कजलीबाजों की रचना-चातुरी, मुख… का निर्बलों की सहायता में सहयोग, गायिकाओं का मर्यादा-पालन और कत्थकों की गरीबपरवरी उनसे सुनकर उस युग का दृश्य मनश्चक्षुओं के… सामने आ जाता था। मासिक 'हंस' का जो 'काशी-अंक' निकला था उसमें उनके लिखवाए हुए कई ऐसे लेख छपे थे। उनके अभिन्न मित्रों में भारत कला-भवन के जन्मदाता श्री रायकृष्णदासजी के पास भी पुराने संस्मरणों का खजाना है, परन्तु रायसाहब से लेकर उसे साहित्य-भण्डार… में संचित करने वाला कोई नहीं है।

मैं जब 'हिमालय' का सम्पादक था तब मैंने रायसाहब से 'प्रसाद' जी के सम्बन्ध में संस्मरणात्मक लेखमाला लिखवाई थी पर सम्पादन-कार्य… से मेरे विरत होने के बाद वह लेखमाला अधूरी रह गई। 'प्रसाद'-सम्बन्धी संस्मरण लिखने के एकमात्र अधिकारी रायसाहब ही हैं। हिन्दी-संसार को उनसे यह साहित्यिक धरोहर ले लेनी चाहिए।

'प्रसाद' जी अपनी जवानी में कुश्ती भी लड़ चुके थे। उनका स्वस्थ शरीर बड़ा गठीला था। उन्होंने मल्ल-विद्या का भी अध्ययन किया था। पहलवानों के अजीब किस्से तो सुनाते ही थे, दाँव-पेंच के बहुतेरे नाम भी उन्हें याद थे। कई व्यापार-धन्धों के दलालों की बोली में कैसे-कैसे विचित्र अर्थबोधक शब्द हैं और उनका रूप कितनी सावधानी से गढ़ा गया है, यह भी वह बतलाते थे। जुआरियों और मल्लाहों की बोली के रहस्य भी वह जानते थे। खेद है कि उस समय उनकी बातचीत का महत्त्व ध्यान में नहीं आया। विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन की दिनचर्या लिखते चलने का काम साहित्य की समृद्धि के लिए किया जाना चाहिए। यदि 'प्रसाद' जी की बातें उस समय टाँक ली गई होतीं तो आज वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति समझी जातीं। किन्तु उनके जीवनकाल में ही उनका उत्कर्ष शत्रुओं को असह्य हो गया था। उनकी रचनाओं की कट-छँटकर आलोचना

होती रही पर उन्होंने कभी उस पर ध्यान न दिया। वह स्वान्तः सुखाय लिखते थे अर्थ या यश की कामना से नहीं।

इस निर्मम संसार ने जीते-जी न प्रेमचन्द को परखा, न प्रसाद को और न 'निराला' को ही। जब वे संसार से चले गये तब इनके गुणगान के साथ यह भी अनुभूत होने लगा कि साहित्य-क्षेत्र में वे अमोघ मेधा शक्ति लेकर आये थे। प्रसाद'जी की जो उपेक्षा और उपहास हुई वह किसी से छिपी नहीं है। पर हिन्दी को 'प्रसाद'जी कविता कहानी उपन्यास नाटक निबन्ध आदि के रूप में जो निधि दे गए उसका मूल्यांकन करके आज गौरव का अनुभव किया जा रहा है। जगत् की यही परम्परा तथा रीति जान पड़ती है कि वह युग की विभूति को उसके विलीन हो जाने के बाद ही पहचानता है।

'प्रसाद'जी कभी किसी कवि-सम्मेलन में नहीं जाते थे। मित्र-गोष्ठी में बैठकर कविता-पाठ करते थे। गंगा में बजरे पर मित्र-मण्डली को बड़ी उमंग से गाकर अनेक कविताएँ सुनाते थे पर सार्वजनिक सभाओं में कभी नहीं। गोरखपुर में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन 'प्रताप'-सम्पादक श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के सभापतित्व में हुआ था। वहाँ के कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए 'प्रसाद'जी के पास तार आया। तार में सभापति विद्यार्थीजी और राजर्षि टण्डनजी के नाम अंकित थे। उसे पाते ही अन्यमनस्कता से उसको अलग रखकर बातें करने लगे। उनके परम स्नेहभाजन और हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार पंडित विनोदशंकर व्यास वहीं बैठे थे। व्यासजी ने उनसे बड़ा आग्रह किया कि स्वीकृति-सूचना भेजकर अवश्य गोरखपुर चलिए, हम लोग साथ चलेंगे। पर वह हँसकर बात टाल गए। किन्तु काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोशोत्सव-स्मारक के अवसर पर जीवन में केवल एक ही बार उनको सार्वजनिक समारोह में कविता-पाठ करना पड़ा था। हिन्दी शब्द सागर के सम्पादकों का सम्मान करने का जो आयोजन हुआ था और उसके साथ जो कवि-सम्मेलन हुआ उसके अध्यक्ष थे प्रसादजी के साहित्य गुरु महामहोपाध्याय देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती। आचार्य श्यामसुन्दरजी के आग्रह पर भी जब 'प्रसाद'जी कविता-पाठ करने को तैयार न हुए तब

उनके सुर के अभ्यास-वश व आदेशानुसार उन्हें कविता-पाठ करना पड़ा। उनके ललित-मधुर कण्ठ-स्वर से सारी सभा मन्त्रमुग्ध हो रही। अपनी कविता गाते समय वह स्वयं भी भाव-विभोर हो जाते थे।

उस समय काशी में हिन्दी-साहित्य के धुरन्धर महारथियों का बड़ा अच्छा जमघट था। सबके साथ उनका सद्भावपूर्ण सम्बन्ध था। एक बार प्रेमचन्दजी ने अपने 'हंस' में उनके ऐतिहासिक नाटकों पर सम्पादकीय मत प्रकट करते हुए लिख दिया था कि 'प्रसाद'जी प्राचीन इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ा करते हैं। किन्तु जिस समय यह मत प्रकाशित हुआ उस समय भी प्रेमचन्दजी सदा की भाँति 'प्रसाद'जी के साथ बैठकर निर्विकार चित्त से साहित्यिक संलाप करते रहे। दोनों महारथियों में कभी किसी प्रकार का मनोमालिन्य अथवा वैमनस्य नहीं हुआ। उनकी तीव्र आलोचना करनेवाले सज्जन भी उनके पास पहुँचकर यथोचित आदर-मान ही पाते थे। किसी के प्रति उनके मन में कोई रागद्वेष न था। उनकी अभ्यर्थना करने के लिए कई संस्थाओं से अनुरोध होते रह गए, पर वह सम्मानित होने के लिए कभी कहीं काशी के बाहर नहीं गये। एकान्त भाव से साहित्य-समाराधन में संलग्न रहकर ही सारा जीवन बिता दिया।

'प्रसाद'जी छायावाद और रहस्यवाद के युग में उत्पन्न हुए थे। खड़ी बोली हिन्दी में ही कविता करते थे। किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा-काव्य के भी मर्मज्ञ थे। पुरानी कविताएँ काफी कण्ठस्थ थीं। ब्रजभाषा-साहित्य के बड़े अनुरागी और प्रशंसक थे। काशी में होली के बाद 'बुढ़वा मंगल' का महोत्सव गंगा की मध्य धारा में हुआ करता था। चैत की चटकीली चाँदनी में प्रशस्त बजरों पर सजीले शामियानों में नृत्य-गान का दर्शनीय आयोजन होता था। उन सुसज्जित बजरों के चारों ओर दर्शकों और शौकीनों की नौकाएँ रात-भर डटी रहती थीं। 'प्रसाद'जी की नाव पर उनके साहित्यिक बन्धु भी संगीत का आनन्द लूटते थे। काशी की सुप्रसिद्ध गायिकाएँ सूर और तुलसी के विनय-पद जब गाने लगती थीं 'प्रसाद'जी भाव-विह्वल हो उठते थे। एक दिन काशी-नरेश के बजड़े पर विद्याधरी ने जब सूर का एक पद (अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल) गाया तब 'प्रसाद'जी के सजल नैनों से अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो चली।

उनके घर पर दरवाजे के सामने ही जो शिव-मन्दिर है उसमें फाल्गुनी महाशिवरात्रि का महोत्सव हुआ करता था। उनके परिवार की यह पुरानी परम्परा थी। उसमें अधिकतर साहित्यसेवियों का ही समागम होता था। उस गान-वाद्य के समारोह में भी काशी की कोई सर्वश्रेष्ठ गायिका केवल शास्त्रीय संगीत सुनाने आती थी। नृत्य नहीं होता था पर मेघ पर शुद्ध साहित्यिक आनन्द देने वाले ही होते थे। बड़े शान्त भाव से और बड़ी शिष्टता के साथ वह उत्सव सम्पन्न होता था। इसी प्रकार अपने वंश की मर्यादा का निर्वाह वह प्रत्येक पर्व पर करते थे। श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) के दिन चाँदी और ताँबे के सब तरह के बड़े-छोटे सिक्कों की राशि अपने आगे लेकर बैठते थे। अधिकांश ब्राह्मणों को दक्षिणा दमड़ी-छदाम की जिन्हें पूर्ववत् अपना भाग मिल जाता था। होली दीवाली दशहरा सब त्योहारों में उनके परिवार की पुरानी प्रथा का पालन विधिवत् होता था। उनका घराना काशी में बहुत प्रतिष्ठित माना जाता रहा और उससे लाभान्वित होनेवाले लोग उसे दरबार की संज्ञा देते थे। 'प्रसाद'जी को देखते ही अनेक काशी-निवासी 'हर-हर महादेव' नाम कहकर उन्हें करबद्ध प्रणाम करते थे। यह प्रतिष्ठा बनारस में केवल काशी-नरेश को ही प्राप्त है। किन्तु बड़े राग-रंग वाले धनी घराने में पैदा होकर भी अपने निष्कलंक चरित्र के प्रभाव से ही वह इस प्रतिष्ठा के आजीवन अधिकारी बने रहे।

'प्रसाद'जी संस्कृत-साहित्य के स्वाध्याय के अतिरिक्त अंग्रेजी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का भी अनुशीलन करते रहते थे। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (काशी) में उनके जो शोध-प्रधान ऐतिहासिक निबन्ध प्रकाशित हुए थे उन्हें पढ़कर स्वनामधन्य इतिहासज्ञ विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने भी रायकृष्णदास के घर पर उनका हार्दिक अभिनन्दन किया था।

बातें बहुत हैं, पर कहाँ तक लिखा जाए। बानगी के तौर पर जो कुछ यहाँ लिखा गया है उससे 'प्रसाद'जी के साहित्यिक पहलू का विशेष सम्बन्ध नहीं है, व्यावहारिक जीवन की झलक-झाँकी ही मिल सकती है।[1]

१. मधुराम सन् १९६१ ब्रजभारती ('प्रसाद' अंक भाग १, वर्ष ६, अंक १-४) कलकत्ता।

स्वर्गीय श्री रघुवीरनारायणजी

बिहार के पुरानी पीढ़ी के साहित्य-सेवियों में श्री रघुवीरनारायणजी का बड़ा आदरणीय स्थान है। अपने समकालीन वयोवृद्धों में उनकी स्पृहणीय प्रतिष्ठा थी। वह अंग्रेजी और फ़ारसी-उर्दू के प्रमुख विद्वानों में गिने जाते रहे। हिन्दी में उनकी कविताएँ देश भक्ति और भगवद्-भक्ति की भावनाओं स परिपूर्ण हैं। भोजपुरी भाषा में वह सर्वप्रथम सफल कवि थे।

अंग्रेजी के वह ऐसे मेधावी कवि थे कि अंग्रेज विद्वानों और कवियों ने भी उनकी अंग्रेजी कविताओं की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की थी। इंग्लैंड के 'पोएट लारिएट' (राजकवि) ने उनको प्रशंसापत्र दिया था। पटना-कॉलेज के अंग्रेज प्रिंसिपल ने भी उनकी अंग्रेजी कविताओं पर मुग्ध होकर उन्हें प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र देकर उत्साहित किया था। मैंने उनके कई प्रशंसापत्रों को उनसे माँगकर बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन विभाग में सुरक्षित रखवा दिया है। उनके पौत्र श्री अवधेन्द्रदेव नारायण जो हिन्दी के बड़े होनहार और प्रतिभाशाली नवयुवक कवि हैं उनके निधन के बाद उनका एक अँगरखा (अचकन) भी उसी संग्रह म रखने के लिए दे चुके हैं। साथ ही उनकी दो प्रकाशित कविता-पुस्तकें भी अवधेन्द्रजी ने बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् के अनुसन्धान-पुस्तकालय के लिए दी थीं। उनके पुत्र श्री हरेन्द्रदेव नारायण बी० ए० हिन्दी के यशस्वी कवि और प्रौढ़ आलोचक हैं। इन्होंने भी भोजपुरी में 'कुँवरसिंह' नामक बड़ा ओजस्वी काव्य ग्रन्थ रचा है और कई मौलिक उपन्यास भी लिखे हैं। इसके अलावा उनकी पुत्रवधू श्रीमती प्रकाशवती नारायण भी बिहार की आधुनिक विदुषी महिलाओं में अपनी साहित्य-साधना के बल पर सम्मानपूर्ण स्थान की अधिकारिणी बन चुकी हैं। यह बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

के सार्वजनिक पुस्तकालय की संचालिका हैं। इनका एक नया सामाजिक उपन्यास दिल्ली के एक प्रसिद्ध प्रकाशन से निकला है। इनकी कहानियाँ और कविताएँ इनकी मौलिक प्रतिभा का परिचय देकर बिहार की साहित्यिक महिलाओं में इनका नाम उजागर कर चुकी हैं। इस प्रकार उनके सुपुत्र पौत्र और पुत्रवधू के द्वारा उनके वंश की साहित्यिक परम्परा अबाध गति से चल रही है। उनके ये वंशधर साहित्य-सेवा के क्षेत्र में उत्तरोत्तर प्रगतिशील रहकर उनके साहित्यिक पूर्वजों का गौरव बढ़ा रहे हैं।

वह सारन (छपरा) जिले के 'नया गाँव' नामक ग्राम के निवासी श्रीवास्तव कायस्थ थे। उनके पूर्वजों में कई विद्वान् साहित्यकार और भक्त कवि हो चुके हैं। उनके पूर्वजों और वंशधरों की साहित्य-सेवा एक ऐसी उज्ज्वल परम्परा प्रदर्शित करती है जिससे यह सहज ही अनुमान होता है कि उनके अभिजात कुल पर ईश्वर के वरदान की छाया है। तपश्चर्या के बिना पीढ़ी-दर-पीढ़ी साहित्य-सेवा की गुंजाइश नहीं चल सकती। ऐसे दृष्टान्त विरल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण से भक्तवर अर्जुन ने जब योगभ्रष्ट व्यक्तियों की गति के विषय में प्रश्न किया था तब भगवान् ने स्पष्ट कहा था कि ऐसे व्यक्ति सदाचारी और श्रीमन्त कुलों में जन्म लेते हैं पर ऐसा जन्म इस संसार में निस्सन्देह अति दुर्लभ है। यह गूढ़ तत्त्व का प्रसंग श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय में द्रष्टव्य है। आज के वैज्ञानिक और समुन्नत युग में ऐसी बातें भले ही अविश्वसनीय अथवा उपहासास्पद समझी जाएँ, किन्तु यह निश्चित है कि कुलीनता के साथ प्रतिभा या विद्वत्ता द्वारा उपार्जित कीर्ति का संयोग जहाँ कहीं वंशानुक्रम चला पड़े वहाँ ईश्वरीय प्रेरणा का संकेत अवश्य रहता है। अतः उनकी साहित्य-साधना से अनायास यह आस्था बनती है कि उनके प्रतिष्ठित घराने को ईश्वर ने कभी कृपादृष्टि की कोर से देखा ही होगा।

भोजपुरी भाषा में उनका 'बटोहिया' गीत बहुत अधिक प्रसिद्ध है। वह भोजपुरी का 'वन्देमातरम्' है। उनका 'भारत-भवानी' नामक गीत सन् १९१२ में पटना में हुई कांग्रेस में गाया गया था। 'भारत भवानी' भी भोजपुरी का 'जन-गण-मन अधिनायक' के समान राष्ट्रीय गीत है। उनके ये दोनों गीत उनके वास्तविक देशानुराग के परिचायक हैं। कवि

के अतिरिक्त वह हिन्दी-गद्य के भी अच्छे लेखक थे। श्री गोकुलानन्द प्रसाद द्वारा सम्पादित और संचालित भक्ति-प्रचार पत्रिकाओं में उनके आध्यात्मिक लेख छपे थे। वह इतिहास के भी पंडित थे। पुस्तक भण्डार (लहेरियासराय) के रजत-जयन्ती स्मारक-ग्रन्थ में विज्ञान-खण्ड पर उनका खोजपूर्ण ऐतिहासिक निबन्ध छपा है। आरा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित श्री राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ में उन्होंने पूज्य राजेन्द्र बाबू के संस्मरण लिखे थे। मैं उनसे आत्मकथा लिखने का आग्रह करता ही रह गया पर अपने जीवन के अन्तिम समय की विषम परिस्थिति से विवश होने के कारण वह लिख न सके। जब कभी उनका सत्संग सुलभ होता था अपनी आत्मकथा के कुछ प्रसंग सुनाने लगते थे। भारतेन्दु-युग के साहित्य-सेवियों में से कितनों ही के साथ उनकी मैत्री थी। बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू रामदीनसिंह, बाबू शिवनन्दन सहाय, पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू यशोदानन्दन अखौरी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि से उनका घनिष्ठ सम्पर्क रहा। इन साहित्यकारों के संस्मरण भी उनके साथ ही चले गए। द्विवेदी-युग के साहित्य-सेवियों में महाकवि 'हरिऔध', लाला भगवान दीनजी, महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा, पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा, बाबू व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' आदि से भी उनकी बड़ी घनिष्ठता थी। वह अपनी छात्रावस्था से ही साहित्य के अनन्य प्रेमी थे।

बनैली-राज्य (पूर्णिया) के अधीश्वर राजा कीर्त्यानन्दसिंह बहादुर ने उनके गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें निजी सचिव बनाया था। राजा बहादुर बिहार के राजाओं में एक आदर्श हिन्दी प्रेमी नरेश थे। वह रघुवीर बाबू से गुरुजन-तुल्य व्यवहार करते थे। प्राचीन काल में राजाओं के आश्रित विद्वानों का जैसा आदर-मान होता था वैसा ही बनैली-दरबार में रघुवीर बाबू का भी हुआ। राजा बहादुर ने उनको पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। किसी राज्य ने अपने मन्त्री को वैसी स्वतन्त्रता न दी होगी। उनको वह अपना परम हितैषी मानते थे। उनकी सलाह की बड़ी कद्र करते थे। यह रघुवीर बाबू के निष्कलंक चरित्र की महिमा थी। उन्होंने बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भवन-निर्माण के लिए राजा बहादुर से दस हजार रुपये आरम्भ में ही दिलवाये थे। राजा बहादुर से उन्होंने कई

साहित्य-मर्मियों का सम्मान कराया था। मेरे साहित्य-गुरु पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्मा द्वारा सम्पादित और संचालित मासिक 'मनोरंजन' का एक सर्वांगसुन्दर विशेषांक निकला था जिसके प्रकाशन का सारा खर्च उन्होंने राजा बहादुर से दिलवाया था। शर्माजी की 'रामचरित' नामक पुस्तक जब रामलाल बर्मन कम्पनी (कलकत्ता) से बड़ी सजधज के साथ सचित्र प्रकाशित हुई जो राजा बहादुर को समर्पित हुई थी और उन्होंने ही राजा बहादुर से समर्पण की स्वीकृति दिलाई थी तब राजा बहादुर ने शर्माजी को बतेती-दरबार में बुलाकर एक सहस्र मुद्रा से पुरस्कृत किया था। शर्माजी को प्रथम श्रेणी का मार्ग-व्यय तो मिला ही था दरबार से पाँचों टूक रेशमी कपड़े भी मिले थे। एक बार राजा बहादुर और रघुवीर बाबू कलकत्ता गये थे। शर्माजी उन लोगों से मिलने के लिए फकर सिंह कम्पनी (१ मड़ी स्ट्रीट) में गये। वहाँ राजा बहादुर ने शर्माजी को अपने हाथों पान के बीड़े दिए और पाँच गिन्नियाँ उनकी जेब में डाल दीं। शर्माजी ने अंग्रेजी की 'वियसन्स' पत्रिका से कई कहानियों का भारतीय रूप-रंग में हिन्दी-अनुवाद किया था। वह कहानी-संग्रह गंगा पुस्तकमाला (लखनऊ) से प्रकाशित हुआ था। बतेती-राज्य के राजकुमार और राजा बहादुर के बड़े भतीजे कुमार रामानन्दसिंह को वह समर्पित था। कुमार साहब ने उसके लिए शर्माजी को पाँच सौ रुपये नज़र किये। रघुवीर बाबू के माध्यम से ही शर्माजी ने जब मेरी कारेली के 'थलमा' उपन्यास का हिन्दी-रूपान्तर किया जो पुस्तक भण्डार (लहेरिया सराय) से प्रकाशित हुआ तब उसे रघुवीर बाबू को ही समर्पित करके शर्माजी ने उनके उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित की।

राजा बहादुर के जीवन-भर वह दरबार में सर्वोच्च सम्मान का उपभोग करते रहे। राजा बहादुर के वहान्त के बाद भी रानी साहिबा ने उनको वैसा ही सम्मान के साथ राजाश्रय में रखा। उनको राज्य से भू सम्पत्ति भी मिली थी। महल से ही उनका भोजन आता था। तीर्थाटन में भी वह रानी साहिबा के साथ जाते थे। उनसे समय-समय पर आवश्यक सम्परामर्श के अतिरिक्त कोई काम नहीं लिया जाता था। उन्हें जो द्रव्य दरबार से मिलता था उससे होमियोपैथी की दवाएँ खरीदकर वह प्रतिदिन

गरीबों को मुफ्त बाँटते थे। बिहार के भवबाधाहारी सन्त स्वनामधन्य 'रूपकला' जी के कृपापात्रों में उनका विशिष्ट स्थान था। अपनी अनन्य रामभक्ति के प्रभाव से ही वह भी रूपकलाजी के समान सिद्ध सन्त के स्नेहभाजन हुए थे। सचमुच वह स्वयं भी एक सद्गृहस्थ सन्त थे। उनके वर्तमान वंशधरों की नामावली भी उनकी भगवद्भक्ति की परिचायिका है।

उपर्युक्त शर्माजी के साथ मैंने उनको सबसे पहले महामहोपाध्याय रामावतार शर्माजी के घर पर पटना में देखा था। महामहोपाध्यायजी के परमप्रिय विद्यार्थियों में एक वह भी थे। दोनों एक ही जिले (छपरा) के निवासी थे और परस्पर भोजपुरी में ही बातें करते थे। बिहार के निर्माताओं में प्रमुख डॉक्टर सच्चिदानन्दसिंह उनकी अंग्रेजी और भोजपुरी कविताओं के बड़े प्रशंसक थे। पटना पधारने पर वह सिन्हा साहब से अवश्य मिलते थे। सिन्हा साहब भोजपुरी के बड़े हिमायती थे। रघुवीर बाबू को पटना डिवीजन के कमिश्नर ओल्डहम साहब और पटना ट्रेनिंग कॉलेज के हिन्दी-प्रेमी प्रिंसिपल पिकेट साहब भी बहुत मानते थे। ये दोनों हिन्दी प्रेमी अंग्रेज उनसे भेंट होने पर टूटी-फूटी भोजपुरी में ही बोल उठते थे और भोजपुरी शब्दों में से विचित्र अर्थ के शब्दों का अंग्रेजी पर्याय पूछने लगते थे। रघुवीर बाबू के बतलाये हुए उपयुक्त शब्दों से उन्हें बड़ा सन्तोष होता था और इसीलिए वे लोग उनका सत्कार करते थे। उन्होंने कई ऐसे शब्द बताये थे जो अब याद नहीं हैं। यदि वे आत्म-संस्मरण लिख गए होते तो आज उसका साहित्यिक मूल्य बड़े महत्त्व का होता। नाटा कद, गठीला शरीर, साँवला रंग, साक्षात्कार होते ही चेहरे पर मुसकराहट की आभा, गुड़गुड़ी पर तम्बाकू पीने का शौक, राम-नाम-सुमिरन का मानसिक अभ्यास, वाणी में स्वाभाविक मिठास, वेशभूषा में सादगी, व्यवहार में सहज सरलता और आचरण में साधुता, यह उनकी तसवीर आज भी आँखों में खुबी हुई है। उनका अन्तिम दर्शन सम्मेलन-भवन (कदमकुआँ, पटना) में हुआ था। मैं व्रजेन्द्रदेवजी में उनकी दिव्यात्मा की झलक देखना चाहता हूँ।¹

१ लिखित : ३१ अक्टूबर १९५२।
प्रकाशन : अक्टूबर, १९५२—साप्ताहिक नया बिहार (दीपावली विशेषांक) पटना।

स्वर्गीय अच्युतानन्द दत्त

श्री अच्युतानन्द दत्त को स्वर्गवासी हुए लगभग बीस वर्ष बीते होंगे। वह कोसी-अंचल के 'मनमाहीं' ग्राम के निवासी थे जो अब सहरसा जिले में है। पहले यह भागलपुर और दरभंगा की सीमा पर मधेपुरा मण्डल में था।

एक अति साधारण कायस्थ-परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा भी साधारण ही हुई। पर केवल स्वाध्याय के बल पर उन्होंने ऐसी योग्यता अर्जित कर ली कि उनकी विद्वत्ता एवं प्रतिभा देखकर आश्चर्य होता था।

उनकी रहन-सहन के ढंग सादा थे। सदा नंगे पैर चलते थे। कुर्ता भी किसी विशेष अवसर पर ही पहनते थे। टोपी कभी पहनी ही नहीं। हमने सदा उनका गौर शरीर चादर में लिपटा देखा था। सदा प्रसन्न रहना उनका सहज स्वभाव था। यदि पान की गिलौरियाँ मुँह में डाले हों, हँसने-हँसाने का कोई प्रसंग आ गया तो तुरन्त बीड़ी को थूककर हँसने लग जाते और कहते कि हँसी के सामने पान की बिसात ही क्या! कोई अच्छी चीज़ लोग खाते तो उसकी प्रशंसा में संस्कृत और हिन्दी की कविता सुनाने लग जाते। स्मृति-शक्ति उनकी अत्यन्त प्रखर थी।

वह लहेरियासराय (दरभंगा) के पुस्तक-भंडार में बालोपयोगी सचित्र मासिक पत्र 'बालक' के सहकारी सम्पादक थे। प्रधान सम्पादक मास्टर साहब (श्री रामलोचन शरणजी) के वह परम स्नेहभाजन थे। उनकी योग्यता की कभी थाह न लगी। धर्मशास्त्र स्मृति-महाकाव्य आदि के अनेक अवसरानुकूल श्लोक कंठस्थ थे। संस्कृत-व्याकरण की चर्चा छिड़ने पर पाणिनि पतंजलि के वाक्य भी अनायास सुना देते। बँगला भाषा के

साहित्य में भी उनकी अच्छी गति थी। तुलसीदासी रामायण के बहुतेरे स्थल मुखाग्र सुनाते थे।

हिन्दी के प्राचीन काव्य-साहित्य में भी उनकी गहरी पैठ थी। ब्रज भाषा के कवित्त-सवैया-घनाक्षरी आदि जितने भी छन्द हैं सबका पिंगल विधान सिद्ध था। काव्य के अलंकारों का प्रसंग चलने पर उनके लक्षण और उदाहरण तत्काल सुनाकर चकित कर देते। इतने पर भी नम्रता और सरलता ऐसी कि कोई पारखी भी मिलता तो उसकी प्रशंसात्मक वाणी सुनते ही हाथ जोड़कर मौन हो रहते। उर्दू में वह दखल नहीं रखते थे पर मजाक-पसन्द होने के कारण खास-खास मौकों पर कहने योग्य चुभते शेर सुनाने से न चूकते। उनके साथ रहने पर ज्ञान की बहुमुखी वृद्धि होती थी।

उनके छोटे भाई परमानन्द दत्त भी बड़े प्रतिभाशाली थे। इन्होंने 'मेघदूत' का बड़ा सुन्दर मैथिल-अनुवाद किया था। इनकी लिखी दो जीवनियाँ 'पुस्तक भण्डार' से प्रकाशित हो चुकी हैं—'परशुराम' और 'प्रतापादित्य'। इनका भी युवावस्था में ही देहान्त हो गया। इनकी अध्ययनशीलता की साहित्यिक सत्संग में रंग लाती थी।

श्री अच्युतानन्द कहीं बाहर जाकर किसी सभा-सम्मेलन में अपनी विद्या-बुद्धि का सम्यक् प्रदर्शन न कर सके। उनकी ठीक-ठीक पहचान न हो सकी। यदि वह सचमुच ठीक पहचाने जाते तो उनकी योग्यता का सदुपयोग हिन्दी-साहित्य को बड़ा लाभ पहुँचाता। उन्होंने 'आर्यों का प्राचीन निवासस्थान' और 'शक्तिपूजा की विश्वव्यापकता' तथा 'प्राचीन मिथिला' नामक जो गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे थे वे उनके पाण्डित्य के प्रमाण हैं। 'मिथिला मिहिर' में उनके और भी कई लेख छपे थे जो उनकी मननशीलता और शोधवृत्ति के साक्षी हैं।

दत्तजी ने 'महाभारत' का जो पद्यबद्ध अनुवाद मैथिली भाषा में किया था वह प्रकाशित न हो सका पर 'रघुवंश' का मैथिली-अनुवाद प्रकाशित है जिसे देखकर उनकी मेधाशक्ति का अनुमान किया जा सकता है। 'तुलसी-सतसई' की टीका लिखकर उन्होंने यह प्रयत्न कर दिया कि उनसे यदि इस तरह के और भी काम कराये जाते तो हिन्दी का उपकार ही

हुआ। उक्त टीका के अतिरिक्त उनकी लिखी कई अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं जैसे—संन्यासी रामतीर्थ 'वीरवर हम्मीर' 'त्यागी भरत' 'गोस्वामी तुलसीदास' 'सूर्य नमस्कार' आदि। ग्रन्थों और पुस्तकों के सम्पादन तथा प्रूफ-संशोधन की कला में भी वह बड़े दक्ष थे। पुस्तक भण्डार के उत्तम प्रकाशनों की प्रामाणिकता में उनकी श्रमशीलता का बहुत बड़ा हाथ है। वहाँ से 'रामचरितमानस' का जो सिद्धान्त-तिलक प्रकाशित हुआ है उसके प्रथम संस्करण की विशुद्धता पर भी उनकी गहरी छाप है। 'भण्डार' की रजत-जयन्ती और उसके संस्थापक तथा संचालक श्री रामलोचन शरणजी की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर जो बृहदाकार स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ उसके सम्पादकों में दत्तजी का भी नाम सम्मिलित है। भाषा की शुद्धता और शैली की सुगमता तथा रोचकता पर उनका विशेष ध्यान रहता था। इस विषय में उनके सुझाव और सत्परामर्श बड़े महत्त्वपूर्ण एवं बहुमूल्य होते थे।

खेद है कि आज मेरे मस्तिष्क में उनके संस्मरणों की जो धारा प्रवाहित हो उठी है उसे मेरी लेखनी सँभाल नहीं पाती। यह स्मृति-कण केवल श्रद्धांजलि के पुष्पों का बिखरा हुआ एक दल है।[1]

---

१ हिमालय भाद्रपद-आश्विन, १९४५।
प्रकाशन नवम्बर, १९५६—साप्ताहिक 'नया बिहार' (दीपावली विशेषांक) पटना।

ऐसा अमूल्य संग्रह अनुसन्धानशील विद्वानों को सुलभ होता तो साहित्य की समृद्धि-वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती। उस समय पता लगा कि इस संग्रह का सार्वजनिक सदुपयोग नहीं होता। मुझे तो श्री बराल की कृपा से आज्ञा मिल गई थी। उन्हीं के आदेश से सेण्ट्रल जेल में दरी कालीन आदि को बनते देखा। उनकी कोठी में भी जेल की बनी कई चीजें थीं। दरी-कालीन की मजबूती और खूबसूरती सराहनीय थी। उसी समय पहले-पहल जेल के अन्दर प्रवेश करने का अवसर मिला था। कैदियों में बहुत-सी स्त्रियाँ भी थीं जो चरखे और करघे पर काम कर रही थीं। कुछ कैदियों की करुण-कातर दृष्टि देखी नहीं गई और कुछ तो भयानक भी लगे।

अन्तिम दिन प्रातःकाल 'गलता घाटा' देखने गया और सन्ध्या समय अम्बरगढ़ का किला। पहाड़ के अन्दर से एक गोमुखी द्वारा निर्मल जल-धारा निकलकर कुण्ड में गिरती है जिसमें स्नान करना बड़ा आनन्दप्रद प्रतीत होता है। वहीं पहाड़ की गोद में कुछ बस्तियाँ भी नजर आईं। स्थान बड़ा रमणीय है। वहाँ पहुँचने का रास्ता भी बड़ा सुहावना है। यह एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उसका रोचक इतिहास भी है। अम्बरगढ़ या आमेरगढ़ का किला पर्वत-मेखला के मध्य में है। किन्तु पर्वत-प्राचीर काटकर एक जगह प्रवेशद्वार बना दिया गया है। कहते हैं कि सम्राट् पंचम जार्ज की मोटर को किले के भीतरी द्वार तक पहुँचाने के लिए ही ऐसा अनर्थ किया गया था। वह दुर्भेद्य दुर्ग सर्वथा अरक्षित हो गया। उसके चतुर्दिक पर्वत-श्रेणी की शोभा अत्यन्त भव्य है। उसके मुख्य द्वार पर दुर्गेश्वरी भवानी का मन्दिर है जहाँ राजपूत वीर अपनी तलवार कालीजी के चरणों में रखकर शपथपूर्वक शस्त्र ग्रहण करके रणयात्रा करते थे। किले की दृढ़ता और सुन्दरता बस देखने ही योग्य है। एक जगह राजा के भोजनालय की दीवारों पर भारत के सभी तीर्थों के दर्शनीय स्थल चित्र अंकित हैं। रनवास की दीवारों में कांच और शीशे के टुकड़े जड़े हैं जहाँ दियासलाई जलाने पर चारों ओर जगमगाहट छा जाती है। कहते हैं कि कांच की जगह पहले हीरे-जवाहर जड़े थे। जो हो। आगरा के किले में भी एक कमरा ऐसा ही देखा था। किन्तु दिल्ली और आगरा

के किले से यह कहीं अधिक भड़कीला और दुरुस्त है। जयपुर शहर के अन्दर से उसका शिखर नज़र आता है पर ज्यों-ज्यों आदमी उसकी ओर आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसका शिखर पर्वत-मालाओं के भीतर छुपता और आँखों की ओट होता जाता है। उसके प्रशस्त आँगनों और दालानों में घूमते समय प्राचीन वैभव एवं गौरव की बातें याद आने लगती हैं—जाग्रत दशा में भी सुनहले सपने झूमने लगते हैं।

जयपुर की दूसरी यात्रा सम्भवतः सन् १९४० में हुई—बाईस-तेईस बरस बाद। अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन पूज्य गोस्वामी गणेशदत्तजी के सभापतित्व में वहीं हुआ था। मैं वहाँ साहित्य परिषद् का अध्यक्ष चुना गया था। मैं अस्वस्थ था किन्तु अपने पुराने साहित्यिक मित्र पंडित वाचस्पति पाठक का आग्रह टाल न सका। भाषण लिखना पहाड़ हो गया। एक दिन दो बजे रात तक लिखता रहा। दूसरे दिन तबीयत खराब हो गई। दो दिन काम पिछड़ गया। एक रोज़ कमरा बन्द कर दिन में ही लिखने बैठा। किन्तु दिन-दुपहर को कोलाहल के बिना चैन कहाँ? आखिर फिर रात में ही जागकर लिखना पड़ा। छपरा के वाणी-मन्दिर प्रेस ने बड़ी सहायता की। मैं जो लिखता गया उसे देता गया। अन्त में प्रेस में ही जा बैठा। वहाँ भी रतजगा करना पड़ा। अन्तिम दिन अन्दाज लगा कि मैटर बहुत ज़्यादा बढ़ गया। प्रस्थान के समय तक किसी तरह न छप सका। कापी और प्रूफ़ में हस्ताक्षर बनाकर आधी रात में घर लौटा। पानी बरस रहा था। ऊपर अन्धकार, नीचे छपरा की गुमनामी सड़क! चप्पल ने चन्दन छिड़क खूब पीठ-पूजा की। कॉलेज में दशहरे की छुट्टी थी। दूसरे ही दिन सुबह की गाड़ी से जयपुर के लिए कूच करना था। यात्रा-चिन्ता में नींद हराम-सीताराम हुई। सब ज़रूरी सामान सहेजने-सरियाने लगा। वर्षा कहती थी कि सब आज ही बरसूँगी। तड़के ही शिवालय से निकल स्टेशन चला। उस समय कोई सवारी कहाँ मिलती? पैदल ही एक मील का ऊबड़-खाबड़ रास्ता नापना पड़ा—समुद्र थाहना पड़ा। अपने पुराने नौकर बदनाथ के सिर पर सामान रख राजेन्द्र पुस्तकालय (छपरा) के प्रधान मन्त्री श्री केदारनाथ अग्रवाल के साथ ज्योंही स्टेशन पहुँचा गाड़ी

था धमकी। झटपट गाड़ी में सवार होते ही प्रेस के आदमी ने छपे भाषण का बंडल डिब्बे में फेंक दिया। गाड़ी चल पड़ी पानी पट पड़ा मानो प्रकृति परीक्षा ले रही थी।

परीक्षा तो इससे पहले भी हुई थी। मेरे मातृहीन बच्चे-बच्चियों की देखभाल करनेवाला कोई न था इसलिए मैं हताश हो गया था कि अब किसी तरह जयपुर पहुँच न सकूँगा। बिहार-सरकार के पब्लिसिटी अफ़सर श्री उमानाथ एम॰ ए॰ और आर्यावर्त के सहकारी सम्पादक श्री जयकान्त मिश्र छपरा पहुँचकर मेरी विवशता देख गए थे। श्री उमानाथ ने अपने उत्साही अनुज श्री शंकरनाथ (अब एम॰ एल॰ ए॰) को मेरे बच्चों के ननिहाल भेजकर तुरन्त बुलाने का प्रबन्ध कर दिया। यदि वह इतनी कृपा न करते तो मैं किसी प्रकार जयपुर न जा पाता। ख़ैर, दशहरे की तातील के कारण गाड़ी में इतनी भीड़ थी कि छपरा से काशी तक और बनारस छावनी से कानपुर तक मुश्किल से बिस्तर के बंडल पर बैठने की गुंजाइश हो सकी। कानपुर के बाद कुछ अवकाश मिला। दूसरे दिन अपराह्न में दिल्ली पहुँचा। बनारस और दिल्ली में कुलियों ने अच्छी तरह मूँड़ा। आख़िर वेटिंग-रूम में ही स्नान ध्यान के बाद अन्नदेव के दर्शन हुए। मेरी लड़कियों ने खाने का सामान काफ़ी दे दिया था।

सन्ध्या से पूर्व जब जयपुर की गाड़ी में सवार होने गया तो देखा कि आचार्य चन्द्रबली पाण्डेयजी (वर्तमान सम्मेलनाध्यक्ष) वहीं विराज रहे हैं। रास्ते में उनके सत्संग से बड़ा लाभ और सुख हुआ। रात में पिछले पहर जयपुर में उतरे। स्टेशन पर कोई मार्गदर्शक नहीं। ताँगा वाला कुछ जानकार निकला। सम्मेलन के पण्डाल से थोड़ी ही दूर पर संस्कृत-कॉलेज के भवन में (हवामहल के सामने) पड़ाव पड़ा। पूज्य पाण्डेयजी भी साथ ही एक कमरे में ठहरे। दूसरे दिन भोर में श्री उमानाथ वहीं मिल गए। लोकमान्य समिति (छपरा) के पं॰ सतीशचन्द्र शर्मा भी मिले। बिहार और बाहर के सुपरिचित साहित्यिकों से मिलकर बड़ा सन्तोष हुआ। स्नान-ध्यान के बाद सभापतिजी के दर्शन कर आया। श्रद्धेय पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी और पं॰

झाबरमलजी शर्मा के दर्शन का सौभाग्य अनेक वर्षों के पश्चात् सुलभ हुआ।

सम्मेलनाध्यक्ष का जलूस राजमाता की अचानक मृत्यु के कारण नहीं निकल सका। वर्तमान जयपुर-नरेश भी सम्मेलन में न पधार सके उनका सन्देश छपकर वितरित हुआ। मुझे अधिवेशन और विषय निर्वाचन-समिति में अनेक साहित्य-सेवियों से मुद्दत के बाद भेंट हुई। डॉक्टर रामकुमार वर्मा से कुछ साहित्यिक चर्चा भी हुई। देखा कि मत भेदों का अखाड़ा पसीने से सींचा जा रहा है। राजर्षि टण्डनजी बढ़ते हुए विन्ध्य को लिटाने वाले अगस्त्य थे। साहित्यिक दंगल का भी अपना एक निराला रंग होता है।

दूसरे दिन कौंसिल हॉल में साहित्य-परिषद् की बैठक हुई। मैंने अपना मुद्रित भाषण पढ़ना शुरू किया। किन्तु अस्वस्थता के कारण ऊँचे स्वर से न पढ़ सका। अतः पंडित सीतारामजी चतुर्वेदी ने पूरा भाषण पढ़ सुनाया। कौंसिल-भवन के सामने सहन में प्रतिनिधियों का परस्पर परिचय और मिलन हुआ। उसी समय राज्य के दीवान सर मिर्जा इस्माइल के साथ सब साहित्य-सेवियों का फोटो लेने के लिए मुलाकात हुई। 'साहित्य-सन्देश'-सम्पादक श्री गुलाबरायजी के साथ मैं उधर गया सही मगर दीवान साहब से हाथ मिलाने के बाद अभी कतार के पीछे से हम लोग खिसक गए। सामने का मनोहर पहाड़ी दृश्य देखते हुए हम लोग नीचे उतर आए। रात के कवि-सम्मेलन में चूरू (बीकानेर) के नवयुवक कवि 'श्री मुकुल' ने खूब रंग जमाया। हमारे दिनकरजी तो सचमुच ही सर्वोपरि विराजते हैं। उन्हें खूब तालियाँ मिलीं।

तीसरे दिन मेरे कलकत्ता-प्रवास-काल के मित्र श्री रामचन्द्र खेमका मिल गए। वह रतनगढ़ (बीकानेर) के निवासी पुराने लेखक हैं। उनका साग्रह स्वागत-सत्कार शिवजी की विजया बूटी से शुरू हुआ और आमेर गढ़ के किले पर मधुरेण समाप्त हुआ। विचार था कि मित्रवर श्री गोपाल नेवटिया के गाँव फतहपुर (शेखावाटी) जाकर वहाँ का सरस्वती-पुस्तकालय अवश्य देख लूँ पर अपने एकाकी बच्चों की चिन्ता छपरा की ओर बलपूर्वक खींच रही थी। नवलगढ़ (जयपुर) के हिन्दी

प्रेमी वहाँ चलने का बड़ा आग्रह कर रहे थे। और भी कई जगहों से प्रेमपूर्ण निमन्त्रण मिला पर मैं ठहर न सका। जयपुर के राज-सम्मानित प्रतिष्ठित रईस कविराज प्रतापनारायणजी ने अपनी पुस्तकें मेरे पास भेज दीं पर मैं उनके दर्शनार्थ निकलकर भी एक दुर्लभ-दर्शन जयपुरिया मित्र के फेरे में पड़ गया। चौमूँ (जयपुर) के वयोवृद्ध साहित्यिक पंडित हनुमान शर्मा ने भी अपनी पुस्तकें मेरे पास भेजी थीं और लखनऊ की 'माधुरी' में काम करने के समय से ही उनसे पत्राचार था, पर साहित्यिकों की मण्डली में पड़कर वनस्थली की ओर चला जाना पड़ा। ये दोनों कृतघ्नताएँ आज तक सालती हैं।

३

तीसरी यात्रा जयपुर-कांग्रेस के समय हुई। राजेन्द्र कॉलेज की विकास-समिति का मैं अध्यक्ष था। उसमें एकाएक निश्चित हुआ कि राजेन्द्र विश्वविद्यालय के लिए, अपील पर राष्ट्रपति आदि प्रमुख नेताओं के हस्ताक्षर कराने के निमित्त एक शिष्टमण्डल भेजा जाए। छपरा से जयपुर तक एक स्पेशल ट्रेन गई थी जिसका प्रबन्ध शायद प्रान्तीय कांग्रेस की ओर से हुआ था। छपरा के कांग्रेस-मन्त्री श्री रामानन्दसिंह की सहायता से जगह मिल गई। साइन्स-विभाग के प्रोफ़ेसर श्री ओझा बाबू के साथ मैं भी चला। बिहार के प्रतिनिधियों में बहुतेरे परिचित भी मिल गए। छपरा के वकील श्री ईश्वरी बाबू बड़े मजेदार साथी मिले। रास्ता बड़ी मौज में कटा। एक जगह किसी कारण अचानक गाड़ी रुकी तो सामने ही अमरूद के बाग पर कुछ प्रतिनिधियों ने धावा बोल दिया। उन लोगों ने मधुवन के फल खूब खाये। दाँतों के बिना मैं गाड़ी में बैठा सिर्फ़ तमाशा देखता रहा। बड़े-बड़े बहुरंगी तरंगी जीव स्पेशल में थे।

जयपुर पहुँचकर पहले बिहार-कैम्प में उतरे। उसके बाद प्रसिद्ध कलाकार श्री उपेन्द्र महारथी के कला-मण्डप में चले गए। वह बिहार सरकार की ओर से उद्योग-विभाग की बहुत-सी चीज़ें प्रदर्शन के लिए ले गए थे। भारत के अनेक प्रान्तों के नर-नारी उन चीज़ों की प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। मिथिला की बनी सींक की डलिया-चँगेरी आदि

पर स्त्रियाँ विशेष मुग्ध थीं।

हम लोग अपने कॉलेज की शासन-समिति के अध्यक्ष श्री महामाया प्रसाद सिंह के साथ एक दिन भोर में राष्ट्रपति डॉक्टर पट्टाभि सीता रमैया से मिले। उन्होंने राजेन्द्र विश्वविद्यालय की अपील पर हस्ताक्षर कर दिए। आचार्य कृपलानी ने तो विनोदपूर्ण ढंग से सिर्फ वादा किया। डॉक्टर किचलू और प्रोफेसर रंगा ने सहर्ष हस्ताक्षर कर दिए। लौटती बार दिल्ली में माननीय श्री जयरामदास दौलतराम और श्री जगजीवन राम से भी महामाया बाबू के साथ हम लोग मिले। दोनों ने पूरी सहानुभूति दिखाई। श्री जयरामदास ने बहुत-से सुझाव दिये। उनके परामर्श बड़े अमूल्य थे। गांधी-सिद्धान्तों पर बने विश्वविद्यालय की आवश्यकता उन्होंने बतलाई। सबने इसको पसन्द किया कि देशरत्न राजेन्द्रप्रसादजी के नाम पर ही गांधीवादी विश्वविद्यालय स्थापित हो सकता है। अब तो ईश्वर ही जानता है कि छपरा का राजेन्द्र कॉलेज कब तक गांधी सिद्धान्तों की नींव पर विश्वविद्यालय के रूप में परिणत होगा।

१ प्रकाशन नवम्बर, १९५०—साप्ताहिक योगी (दीपावली विशेषांक) पटना।

नागपुर-यात्रा का संस्मरण

सन् १९४९ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बिहार के शिक्षा-सचिव श्रीमान माथुर साहब का तार मिला कि जनवरी १९५० की पहली तारीख को शाम की गाड़ी से बिहार के शिक्षा-मन्त्री माननीय आचार्य बदरीनाथ वर्मा के साथ उनके सलाहकार (ऐडवाइज़र) होकर नागपुर जाना होगा। तार के पहले एक पत्र भी मिल चुका था। उससे पता चला था कि नागपुर में मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से, राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन ४ जनवरी से होने वाला है। अतः राजेन्द्र कॉलेज छपरा से छुट्टी लेकर ३१ दिसम्बर, १९४९ को मैं पटना पहुँच गया।

पहली जनवरी (१९५०) को रविवार था। शाम को पटना-जंक्शन स्टेशन पर पहुँच गया। वहाँ बिहार के वयस्क-शिक्षा-संघ के प्रकाशन अफ़सर पंडित छविनाथ पाण्डेयजी मिल गए। मालूम हुआ कि वह भी वहीं जा रहे हैं। यह जानकर बड़ा सन्तोष और आनन्द हुआ। श्रीमान् पाण्डेयजी के साथ रहने से सभी सफ़र में बड़ा आराम रहा। मौक़ा पड़ने पर उनसे काफ़ी मदद भी मिली।

ठीक समय पर माननीय शिक्षा-मन्त्री आचार्यजी की मोटर आ धमकी। प्लेटफ़ार्म के एक छोर पर लगे रिज़र्व डिब्बे में सबका सामान रखा गया। अव्वल दर्जे के उस डिब्बे में चार सीटें थीं। नीचे की दो सीटों पर माननीय आचार्यजी और पाण्डेयजी का बिस्तर बिछा। ऊपर की सीटों पर माननीय आचार्यजी के अंगरक्षक महाशय और मैंने आसन जमाया।

छः बजे के बाद एक्सप्रेस में सिग्नल हुआ। गाड़ी चल पड़ी। मोकामा

स्टेशन पर भोजन होने लगा। मुझे तो रविवार के कारण अलोना भोजन करना था। आचार्यजी के साथ घर की बनी काफ़ी भोजन-सामग्री थी। अलोनी चीज़ें नमकीन से अलग भी थीं। मुझे पर्याप्त प्रसाद मिल गया। खाते-खाते पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं।

लगभग सन् १९१८-१९ की बात याद आई। लखनऊ में अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का नौवाँ अधिवेशन होने वाला था। मैं आरा के एक हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। आरा से साहित्यिक प्रतिनिधि चले। श्री व्रजनन्दन सहाय ('सौन्दर्योपासक'—लेखक)[1] श्री अवधविहारी शरणजी (वर्तमान एडवोकेट पटना हाईकोर्ट)[2] पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा (प्रसिद्ध स्वर्गीय साहित्यसेवी) आदि के साथ मैं भी चल पड़ा। उस दल में माननीय आचार्यजी भी थे। उस समय आप पटना के बिहार नेशनल कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे। जाते-आते रास्ते में बड़ा आनन्द रहा। लौटती बार हम लोग अयोध्या में उतरे। भक्तप्रवर श्री रूपकलाजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों आप हनुमन्निवास में रहते थे। उस समय आचार्यजी में जैसी सरलता, सरसता और सहृदयता थी वह आज भी वैसी ही है। उनकी मिलनसारी से कौन परिचित नहीं!

सुबह होने से कुछ पहले ही हावड़ा-स्टेशन पर नींद खुली। देखा 'विश्वमित्र' के संचालक मूलचन्दजी अग्रवाल डिब्बे में खड़े हैं। पाण्डेयजी ने उनको पहले ही खबर कर दी थी। उनकी शानदार मोटर ने जब उनकी आलीशान कोठी में पहुँचाया तब फिर पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं।

मैं 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में था। असहयोग-आन्दोलन का युग था। बड़ा बाजार में अफ़ीम चौरस्ते के पास एक मकान में छापा खाने का कुछ सामान था। छापने की मशीनें न थीं। 'विश्वमित्र' कम्पोज होकर कहीं और छपता था। फिर 'लिबर्टी' नामक अंग्रेज़ी दैनिक निकला था। अभावों और कठिनाइयों से घोर संघर्ष करते हुए घोर साहसी मूल-चन्दजी ऐसे स्वावलम्बी बने कि उनका अध्यवसाय तथा उत्साह एक पाठ

१. अब स्वर्गीय।
२. अब स्वर्गीय।

नागपुर-यात्रा का संस्मरण

सन् १९४९ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बिहार के शिक्षा-सचिव श्रीमान माथुर साहब का तार मिला कि जनवरी १९५० की पहली तारीख को शाम की गाड़ी से बिहार के शिक्षा-मन्त्री माननीय आचार्य बदरीनाथ वर्मा के साथ उनके सलाहकार (ऐडवाइजर) होकर नागपुर जाना होगा। तार के पहले एक पत्र भी मिल चुका था। उससे पता चला था कि नागपुर में मध्यप्रदेश की सरकार की ओर से राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन ४ जनवरी से होने वाला है। अतः राजेन्द्र कॉलेज छपरा से छुट्टी लेकर ३१ दिसम्बर, १९४९ को मैं पटना पहुँच गया।

पहली जनवरी (१९५०) को रविवार था। शाम को पटना-जंक्शन स्टेशन पर पहुँच गया। वहाँ बिहार के वयस्क-शिक्षा-संघ के प्रकाशन अफ़सर पंडित छविनाथ पाण्डेयजी मिल गए। मालूम हुआ कि वह भी वहीं जा रहे हैं। यह जानकर बड़ा सन्तोष और साहस हुआ। श्रीमान् पाण्डेयजी के साथ रहने से लम्बे सफर में बड़ा आराम रहा। मौक़ा पड़ने पर उनसे काफ़ी मदद भी मिली।

ठीक समय पर माननीय शिक्षा-मन्त्री आचार्यजी की मोटर आ पहुँची। प्लेटफ़ार्म के एक छोर पर लगे रिजर्व डिब्बे में सबका सामान रखा गया। अव्वल दर्जे के उस डिब्बे में चार सीटें थीं। नीचे की दो सीटों पर माननीय आचार्यजी और पाण्डेयजी का बिस्तर बिछा। ऊपर की सीटों पर माननीय आचार्यजी के अंगरक्षक महाशय और मैंने आसन जमाया।

छः बजे के बाद एक्सप्रेस में डिब्बा जुड़ा। गाड़ी चल पड़ी। मोकामा

स्टेशन पर भोजन होने लगा। मुझे तो रविवार के कारण अलोना भोजन करना था। आचार्यजी के साथ घर की बनी काफ़ी भोजन-सामग्री थी। सलोनी चीज़ें नमकीन से अलग भी थीं। मुझे पर्याप्त प्रसाद मिल गया। खाते-खाते पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं।

लगभग सन् १९१४ ई. की बात याद आई। लखनऊ में अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन होने वाला था। मैं आरा के एक हाई-स्कूल में हिन्दी-शिक्षक था। आरा से साहित्यिक प्रतिनिधि चले। श्री व्रजनन्दन सहाय ('सौन्दर्योपासक'—लेखक)[1] श्री व्रजबिहारी शरणजी (वर्तमान एडवोकेट पटना हाईकोर्ट)[2], पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा (प्रसिद्ध स्वर्गीय साहित्यसेवी) आदि के साथ मैं भी चल पड़ा। उस दल में माननीय आचार्यजी भी थे। उस समय आप पटना के बिहार नेशनल कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे। आते-जाते रास्ते में बड़ा आनन्द रहा। लौटती बार हम लोग अयोध्या में उतरे। भक्तप्रवर श्री रूपकलाजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों वह हनुमन्निवास में रहते थे। उस समय आचार्यजी में जैसी उत्कट सरसता और सहृदयता थी वह आज भी वैसी ही है। उनकी मिलनसारी से कौन परिचित नहीं!

सुबह होने से कुछ पहले ही हावड़ा-स्टेशन पर नींद खुली। देखा 'विश्वमित्र' के संचालक मूलचन्दजी अग्रवाल डिब्बे में खड़े हैं। पाण्डेयजी ने उनको पहले ही खबर कर दी थी। उनकी शानदार मोटर से जब उनकी आलीशान कोठी में पहुँचाया गया तब फिर पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं।

मैं 'मतवाला'-मण्डल (कलकत्ता) में था। असहयोग-आन्दोलन का युग था। बड़ा बाजार में अफ़ीम चौरस्ते के पास एक मकान में छापा-खाने का कुछ सामान था। शायद मशीनें न थीं। 'विश्वमित्र' कम्पोज होकर कहीं और छपता था। फिर 'लिबर्टी' नामक अंग्रेजी दैनिक निकला था। अभावों और कठिनाइयों से घोर संघर्ष करते हुए घोर साहसी मूलचन्दजी ऐसे स्वावलम्बी बने कि उनका अध्यवसाय तथा उत्साह एक पाठ

१. अब स्वर्गीय।
२. अब स्वर्गीय।

बन गया। उनके वैभव एवं व्यापार विस्तार से सभी परिचित हैं।

सफ़ेद संगमरमर की सीढ़ियाँ और रंग-बिरंगे संगमरमर से बने कमरों के चित्रित फ़र्श तथा एक-से-एक सुन्दर सामान उस कोठी के शृंगार थे। भाग्य भी पुरुषार्थी पुरुष का ही साथ देता है। भोजन के समय चाँदी के तश्त और प्याले संगमरमर की मेज़ पर चमकते थे। ईश्वर की विचित्र लीला है। एक तरफ़ इतना विपुल ऐश्वर्य दूसरी तरफ़ देश में फैली हुई दर्दनाक गरीबी के दिल दहलाने वाले दृश्य! इस विषमता को दूर करने के शुभ प्रयत्न बहुत हो रहे हैं क्योंकि इस वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग में पुराकृत कर्मों के परिणाम अब विश्वसनीय नहीं रह गए।

मूलचन्दजी का आतिथ्य साहित्यिक ढंग का रहा। उसमें आत्मीयता अधिक थी। उन्होंने बहुत दूर तक मोटर की सैर कराई। अपनी ओर से हम दोनों को एक पुस्तक भेंट की, जिसमें उनके पत्रकार जीवन के अनुभव अंकित हैं। मैं पाण्डेयजी के साथ कालीघाट जाकर भगवती महाकाली के भी दर्शन कर आया। इतने में दक्षिण-हैदराबाद के साहित्य-सम्मेलन से लौटे हुए पंडित लक्ष्मीरमणप्रसाद दीक्षित वहाँ आ पहुँचे। मूलचन्दजी का घर साहित्यिकों की अतिथिशाला के रूप में दीख पड़ा। सुना कि साहित्यिकों के लिए उनका द्वार सदा खुला रहता है। दीक्षितजी से प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन की स्थिति सुनकर ध्यान में आया कि आज के हम साहित्यनामधारियों में स्वार्थपरता और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की वृद्धि कितनी अधिक मात्रा में हो गई है!

वहीं पर एक युवक चित्रकार भी आ मिले। वह स्वनामधन्य स्वर्गीय चित्रकार प्रोफ़ेसर ईश्वरीप्रसाद वर्मा के पौत्र थे। नाम अब याद नहीं। उनसे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि स्वर्गीय वर्माजी की सारी कला कृतियाँ गायब हो गईं। जीते-जी उन्होंने अपने परिवार के लड़कों को भी अपनी कला की बारीकियाँ नहीं बतलाईं—अपनी उत्कृष्ट कला की एक भी निशानी अपने परिवार में नहीं रहने दी। मरते दम तक वह अपने कला-संग्रह का सन्दूक अपने सिरहाने रखे रहे जो उनके मरते ही किसी ऐसे चतुर लोभी के हाथ लग गया जो पहले से ही उसकी ताक में था। वह अपनी कला-मर्मज्ञता अपने साथ ही लेते गए।

जब पंडित छविनाथ पाण्डेय बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के मन्त्री थे उपर्युक्त प्रोफेसर वर्मा ने मुझसे यह इच्छा प्रकट की थी कि सम्मेलन को अपने सभी चित्र दे देंगे और उनके नाम पर सम्मेलन-भवन में एक कला-संग्रहालय खुलेगा तथा वह स्वयं भी सम्मेलन भवन में ही रहेंगे। यहाँ तक कि मेरे साथ सदाकत-आश्रम जाकर पूज्य राजेन्द्र बाबू के सामने भी उन्होंने यह इच्छा प्रकट कर दी और पूज्य बाबू का आशीर्वाद भी मिल गया तथा पाण्डेयजी ने सम्मेलन-भवन में उनके रहने के लिए एक कमरा भी सुसज्जित कर दिया किन्तु वह वहाँ भी स्थायी निवास न बना सके इधर-उधर भटकते फिरे। सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री उपेन्द्र महारथी उनको अपने साथ बड़ी श्रद्धा से रखना चाहते थे। मैंने उनसे कहा भी कि अपनी पुरानी कला वर्तमान सर्वश्रेष्ठ कलाकार महारथीजी को सिखला दीजिए पर उन्होंने अपने पुत्रों और पौत्रों को तो अपना हुनर सिखलाया ही नहीं दूसरों को भला कैसे सिखलाते!

स्वर्गीय वर्माजी ने अपनी कला की कुंजियाँ अपने किसी श्रद्धालु शिष्य को भी नहीं सिखलाईं। भारतीय उस्तादों की यह परम्परागत नीति अत्यन्त संकीर्ण है। कितने ही कलाविद और गुणी अपना कलात्मक चमत्कार अपने ही साथ लेते गए। सुपात्र पाकर भी जो कला का वरदान नहीं करता वह इन्साफ के रोज क्या जवाब देता होगा?

दूसरे दिन आठ बजे रात के बम्बई-मेल से नागपुर की ओर प्रस्थान हुआ। इसमें भी मध्यम दर्जे का रिजर्व किया था। तीसरे दिन रास्ते में डोंगरगढ़ स्टेशन पर भोजन हुआ। रायगढ़ स्टेशन देखकर 'छत्तीसगढ़' के सम्पादक मित्रवर पं० मनोहरप्रसाद मिश्र की याद हो आई। इसी प्रकार छिन्दवाड़ा स्टेशन देखते ही स्वर्गीय बेनीलालजी बैरिस्टर का स्मरण हो आया जो एक बार बिहार प्रान्तीय सेवा-समिति के वार्षिकोत्सव में सभापति होकर मुजफ्फरपुर पधारे थे। बिलासपुर स्टेशन पर पहुँचते ही बालपुर-निवासी पंडित लोचनप्रसाद पाण्डेय का ध्यान बँध गया जो काव्यानुशीलन के अतिरिक्त पुरातत्त्वानुसन्धान में भी कीर्ति-लाभ कर चुके हैं। राजगाँव-स्टेशन मिला तो साहित्यमूर्ति श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की वह मौक्तिक-प्रदीप-जैसी सूरत याद पड़ गई जो द्विवेदी-युग की 'सरस्वती'

के कार्यक्षेत्र में कभी दीख पड़ी थी। इस तरह कई पुराने साहित्यसेवियों की स्मृतिधारा में अवगाहन करते और सघन-वनश्री-मण्डित पर्वतश्रेणियों की शोभा निरखते आँखें निहाल हो गईं। तब तक गाड़ी नागपुर स्टेशन पर आ लगी।

वहाँ माननीय आचार्यजी के स्वागतार्थ सरकारी अफ़सर मौजूद थे। सरकारी मोटरें भी बाहर खड़ी थीं। हम लोग मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री माननीय पंडित रविशंकर शुक्ल की कोठी में पहुँचाये गए। शुक्लजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। गोरा लम्बा तगड़ा शरीर और बड़ी-बड़ी सफ़ेद मूँछों से सुशोभित भव्य मुखड़ा बड़ा प्रभावशाली प्रतीत हुआ। उनका सौजन्य और सौहार्द तो कभी भूलने का नहीं। हँसते-हँसते बातें करते अपने पोते को गोद में लिये चले आते और नाश्ता करने के लिए खुद साथ बुला ले जाते हुए कमरे में खुद पहुँचकर सुख-सुविधा की बात पूछते माननीय आचार्यजीके साथ बैठकर घरेलू सुख-दुःख भी बतियाते दिन और रात के भोजन के लिए भी स्वयं ही बुलाने पहुँच जाते नाश्ता और भोजन के समय भी बच्चों से मन बहलाया करते बचपन की अपनौती उनके बर्ताव में थी। भोजनालय विशुद्ध भारतीय ढंग का था। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र पं० अम्बिकाचरण शुक्ल आकर घंटों बैठते और राजनीति तथा समाजनीति पर अपने क्रान्तिकारी विचार प्रकट कर हम लोगों का खूब मनोरंजन करते। एक दिन वह पाण्डेयजी के साथ मुझे भी मोटर से बहुत दूर घुमाने ले गये—जंगल झील पहाड़ प्रान्तर आदि दिखलाये। प्राकृतिक दृश्य बड़ा मनोहर था। फिर एक दिन माननीय पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के पास भी ले गए। मिश्रजी ने पाण्डेयजी को और मुझको अपने काव्य-ग्रन्थ 'कृष्णायन' की एक-एक प्रति दी तथा शिक्षा एवं साहित्य के सम्बन्ध में बिहार की प्रगति पूछी।

चौथी तारीख को लगभग मध्याह्न में हम लोग नागपुर के हवाई अड्डे पर गये। मद्रास से डकोटा विमान द्वारा पूज्य राजेन्द्र बाबू आये। हवाई अड्डा अत्यन्त विस्तृत है। विमान पृथ्वी पर उतरकर दौड़ने लगा। उसके रुकते ही राष्ट्रपति सीढ़ी से उतरते नजर आए। उनके साथ ही चक्रधर शरणजी भी थे जिनके हाथ में बहुत बड़े-बड़े गुलाबों की एक

लम्बी-सी माला थी। उसके बीच में पान के पत्तों को कतरकर बनाया हुआ एक मोटा-सा हार-गुच्छा लटका था। उस माला को साथ लाकर कमरे के बड़े शीशे पर मैंने लटका दिया। गुलाब के फूलों की सुगंध से कमरा गमगमाता रहा।

अपराह्न-काल में असेम्बली-भवन में राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण-परिषद् का अधिवेशन आरम्भ हुआ। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने उद्घाटन भाषण किया। डॉक्टर रघुवीर और माननीय पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र के भाषणों का सारांश यह था कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो नये पारिभाषिक शब्द बनाये या गढ़े जाएँगे उनकी मूल भित्ति संस्कृत भाषा ही हो सकती है। मध्य-प्रदेश के स्पीकर माननीय श्री घनश्यामदास गुप्त ने भी इसी मत का समर्थन करते हुए भाषण किया। माननीय आचार्यजी ने नवनिर्मित शब्दों की सुबोधता एवं सुगमता पर जोर देते हुए प्रचलित और सुपरिचित शब्दों को भी ग्रहण करने की सलाह दी। पाण्डेयजी के बाद मैंने भी अपनी राय जाहिर की। इन दोनों के मत-प्रकाश के अनन्तर श्री सत्यनारायणम् (एम० पी०) ने संविधान-सभा की ओर मद्रास के हिन्दू कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉक्टर गणपति ने दक्षिण भारत के अहिन्दी-भाषा भाषियों की कठिनाइयाँ तथा आवश्यकताएँ बतलाईं। भाषणों द्वारा विचार-विनिमय हो चुकने के उपरान्त अन्त में माननीय मिश्रजी का जो धन्यवादसूचक भाषण हुआ उसका निष्कर्ष यही रहा कि संस्कृत के स्रोत से लिये गए नूतन शब्द ही व्यापक प्रसार पा सकेंगे और आवश्यक शब्दों की पुष्टि के लिए संस्कृत के शब्द भण्डार को ही सर्वप्रथम-स्थान मानना भारतीय प्रकृति एवं संस्कृति के अनुकूल होगा। इसके बाद लिपि व्याकरण उच्चारण आदि के प्रमाणीकरण के निमित्त कई समितियाँ बनीं जिनमें से एक के अध्यक्ष माननीय आचार्यजी भी निर्वाचित हुए। हम लोग भी सदस्य बनाये गए। बिहार की ओर से हम लोगों ने लिपि-समिति में प्रोफ़ेसर कृपानाथ मिश्र का तथा व्याकरण-समिति में प्रोफ़ेसर नलिनविलोचन शर्मा का नाम दिया। इन समितियों की बैठकें दूसरे दिन हुईं।

सन्ध्या समय महामहिम राज्यपाल के राजभवन में हम लोग आचार्य

थी के साथ पूज्य राजेन्द्र बाबू के दर्शन करने गये। जैसे हवाई अड्डे पर राष्ट्रपति ने भोजपुरी बोली में कुशल-मंगल पूछा था वैसे ही राजभवन में भी बिहार का हालचाल पूछने लगे। उसी समय वहाँ के गवर्नर श्री मंगलदास पकवासा आ गए। पूज्य राजेन्द्र बाबू ने बड़े उदार शब्दों में हम लोगों का परिचय दिया। राष्ट्रपति की महत्ता और गवर्नर साहब की सादगी देखकर मैं तो स्तब्ध रह गया। गांधी-युग ने देश में कैसे-कैसे महापुरुष उत्पन्न किए! ऐसी विमल विभूतियाँ क्या भावी युग में भी दृष्टिगत हो सकेंगी?

उक्त समितियों की बैठकों के सिलसिले में वहाँ के शिक्षा-सचिव (एजूकेशन सेक्रेटरी) डॉक्टर वेणीशंकर झा से परिचय हो गया। सभी बैठकों की कार्यवाहियाँ आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ हिन्दी में टाइप होकर हम लोगों के हाथों में आ जाती थीं। वहाँ के सरकारी दफ्तर में हिन्दी-टाइपराइटर मशीनों की अनवरुद्ध खटखटाहट सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जब यह पता चला कि डा० झा हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यसेवी पं० लज्जाशंकर झा के सुपुत्र हैं तब और भी हर्ष हुआ। वह मुझे और पाण्डेयजी को अपनी मोटर से अपने घर ले गये। हम लोगों ने वृद्ध वरिष्ठ साथी के दर्शन को एक अलभ्य लाभ माना। झा जी की नेत्र ज्योति बहुत मन्द पड़ गई थी पर हम लोगों का अंगस्पर्श करके उन्होंने बहुत असीसा। वह बहुत दिनों तक काशी के ट्रेनिंग कालेज के प्रिंसिपल थे। उनकी एक स्वराज्य-सम्बन्धी हिन्दी-पुस्तक श्री रामकृष्ण दास ने अपने भारती-भण्डार से प्रकाशित की थी। वह मेरी ही देख रेख में छपी थी। वह हिन्दी का उत्कर्ष-संवाद सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

दूसरे दिन प्रातःकाल एक विराट ग्रन्थ प्रदर्शनी हुई। उसे भी राष्ट्रपति ने ही उद्घाटित किया। वहाँ डॉक्टर रघुवीर ने जो भाषण किया उससे उनके बहुभाषाविज्ञ होने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। वहाँ भी राष्ट्रपति प्रायः भोजपुरी में ही आचार्यजी और पाण्डेयजी से बातें करते रहे। वह उस प्रदर्शनी से प्रेरणा पाने की सीख दे रहे थे। उसमें भूमण्डल की अनेक प्रमुख भाषाओं के शब्दकोषों का अपूर्व संग्रह था। राष्ट्रपति को डॉक्टर रघुवीर ने उन सैकड़ों कोषों में से कई अप्राप्य कोष दिखलाये। डॉक्टर

रघुवीर की श्रमशीलता, श्रद्धा और लगन देखकर राष्ट्रपति भी बहुत प्रभावित हुए। हम लोग भी अपरिमित संख्या में दुर्लभ कोषों को एकत्र संगृहीत देखकर डॉक्टर रघुवीर के धैर्य एवं अध्यवसाय पर मुग्ध हो रहे। सभी प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधि आये थे। सबने देखा और सराहा। डॉक्टर रघुवीर के तैयार किये हुए कोषों की पाण्डुलिपियाँ वर्णानुक्रम से अल्मारियों में सजी थीं। उनकी सचित्र प्रतियाँ देखकर डॉक्टर रघुवीर के स्वाध्याय एवं शोध की महिमा का अनुमान करना भी कठिन जान पड़ा।

रात में प्रदर्शनी के स्थान पर ही बम्बई की एक महाराष्ट्र-मण्डली के विलक्षण क्रीड़ा-कौतुक का प्रदर्शन हुआ। नृत्य-गान, लोकनृत्य, ग्रामीण वेश-भूषा, व्यायाम-अभिनय आदि से यही धारणा हुई कि ऐसी राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित करनेवाली मण्डली को गाँव-गाँव में भ्रमण कराने की व्यवस्था सरकार की ओर से होनी चाहिए। अत्यन्त भावोद्दीपक प्रदर्शन था। बिहार सरकार की लोक-मण्डली के कार्यकर्ताओं को अनुप्राणित करने के लिए उस मण्डली का बिहार में आना अत्यावश्यक है। अभी हाल में जो संगीत-नृत्य-नाट्य परिषद् सरकार ने खोली है उसकी ओर से उक्त मण्डली बुलाई जानी चाहिए।

उसी रात डॉक्टर रघुवीर ने अपने निवास-स्थान पर एक प्रीति-भोज दिया। उसमें हम लोग आमन्त्रित हुए। वहाँ पंजाब के माननीय शिक्षा-मन्त्री सरदार नरोत्तमसिंह से परिचय हुआ। उन्होंने कश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण और पंजाब के विभाजन के समय की रोमांचकारिणी घटनाएँ सुनाईं तथा सिक्खों की बहादुरी एवं विपत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया। यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि मध्यप्रदेश की सरकार से डॉक्टर रघुवीर को रहने और काम करने के लिए हर तरह का सुपास मिला हुआ है। एक अधिकारी विद्वान् को निश्चिन्ततापूर्वक अध्ययन-मनन-अनुशीलन करने के लिए सम्मानपूर्वक सारी सुविधाएँ देना किसी भी सरकार के लिए गौरव और प्रतिष्ठा का कारण हो सकता है।

अन्तिम दिन ७ जनवरी को चायपान-गोष्ठी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र से भेंट हुई। पता लगा

कि प्रोफ़ेसर नन्ददुलारे वाजपेयी भी आये हुए हैं। वहीं निश्चित हुआ कि रात में मिश्रजी के निवासस्थान पर सब एकत्र हों। काशी के सुप्रसिद्ध प्रकाशक श्री नन्दकिशोर व्यास की एक दुकान नागपुर में है। पाण्डेय जी के साथ मैं भी वहाँ गया। बनारसी बूटी छनी और दिव्य भोजन भी हुआ। वाजपेयीजी के दर्शन तो न हुए, पर मिश्रजी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक संस्मरण सुनाये। उन्होंने बतलाया कि शुक्लजी प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन के बड़े अनुरागी थे। उनका प्रकृति प्रेम सचमुच उनके निबन्धों में स्पष्ट झलकता है। वह विन्ध्याचल की वनराशि का सौन्दर्य-निरीक्षण करते हुए बहुत दूर-दूर तक चले जाते थे और सुन्दर वनस्पतियों के संस्कृत-नाम भी बतलाते थे। एक बार आचार्य केशवप्रसाद मिश्र के साथ पर्यटन करते हुए उन्होंने 'मेंहदी' का संस्कृत नाम 'नख रंजनी' बतलाया था।

सातवीं तारीख को मध्याह्न के कलकत्ता मेल से फिर पूर्ववत् रिज़र्व डिब्बे में हम लोगों ने नागपुर से प्रस्थान किया। ठिकाने पहुँच पाण्डेयजी के एक मारवाड़ी मित्र के अतिथि हुए। श्री बसन्तलाल श्यामसुन्दर शायद उस गद्दी का नाम था। आतिथेय सज्जन श्री रामगोपाल हिम्मतसिंह पिंजरापोल के मन्त्री थे। शाम को पिंजरापोल (सोदपुर) देखने मोटर से गये। गोरक्षिणी के रजिस्टर में लिखी हुई सम्मतियों को पढ़ने लगा तो पूज्य मालवीयजी आदि के स्वाक्षर देखकर मन में नाना प्रकार के भाव उठने लगे। कितने ही नेताओं साहित्यिकों और विद्वानों की हस्तलिपियाँ और गोरक्षा-सम्बन्धी सम्मतियाँ को प्रकाशित करने के लिए कहीं सुरक्षित रखना चाहिए।

लौटती बार कलकत्ता में श्री अगरचन्द नाहटा कोठिया का ग्रन्थ-संग्रह देखने का निश्चय पहली ही बार किया गया था। आठवीं जनवरी के अपराह्न में पाण्डेयजी के साथ उनके यहाँ पहुँचने पर अनेक दुष्प्राप्य ग्रन्थों के दर्शन हुए। गत वर्ष के अन्त में कलकत्ता के हिन्दी प्रेमियों ने कोठियाजी का अभिनन्दन किया था और एक थैली भी उन्हें भेंट की गई थी। वह विशेष शिक्षित नहीं हैं परन्तु प्राचीन महत्त्वपूर्ण दुर्लभ ग्रन्थों के संग्रह में ही उनके जीवन का प्रत्येक क्षण बीता है। फतहपुर (जयपुर)

के सरस्वती-पुस्तकालय को उन्होंने दर्शनीय ग्रन्थों से पूर्ण समृद्ध कर दिया है। माननीय आचार्यजी को उन्होंने 'बिहारी-सतसई' की एक अत्यन्त प्राचीन मुद्रित प्रति भेंट की थी जो सम्भवतः लल्लूलालजी के तिलक से विभूषित और डॉ॰ ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित थी।

उसी दिन हम लोग रात में दिल्ली एक्सप्रेस से पटना लौट चले। नवी जनवरी को प्रातःकाल पटना पहुँचने पर बड़ी थकावट मालूम होने लगी। कन्या-विवाह की कार्य-व्यस्तता और लम्बी यात्रा के अन्त में जो श्रान्ति आती है वह बड़ी मीठी और गाढ़ी नींद साथ लाती है। उसे लोग घोड़ा बेचकर सोना कहते हैं।[1]

---

१. प्रकाशन १९५१—मासिक 'ज्योत्स्ना' (वार्षिकांक), पटना।

पंक्तियों में यह अमर लेख अंकित रहेगा कि टण्डनजी ने हिन्दी-साहित्य के कल्पवृक्ष को अपने शरीर के एक-एक रक्तबिन्दु से सींचकर उसे पल्लवित पुष्पित और फलित किया है। आज भी प्रत्येक सहृदय साहित्यिक व्यक्ति हिन्दी-हित-साधन में उनके आदर्श आत्मोत्सर्ग का स्मरण करके गर्व-गौरव का अनुभव करते हुए उनके त्यागमय जीवन के समक्ष नत मस्तक होता है।

सन् १९१४ में मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ के पाँचवें सम्मेलन में प्राप्त हुआ था। कविवर पंडित श्रीधर पाठक उस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। बाबू श्यामसुन्दर दास वहाँ कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे और उसी विद्यालय के प्रशस्त प्रांगण में महोत्सव-मण्डप था। वहाँ के उस प्राचीन मञ्च से हिन्दी की सर्वभाषा हितैषिता और व्यापकता पर टण्डनजी का जो प्रभावशाली भाषण हुआ था वह समागत प्रतिनिधियों के बीच बराबर चर्चा का विषय बना रहा। कलकत्तावाले एकादश अधिवेशन में भी जिसके सभापति डॉक्टर भगवान दासजी थे प्रतिष्ठित बंगीय विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने जब बंगभाषा के साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का गुणगान करते हुए हिन्दी-साहित्य के अभावों पर असन्तोष एवं खेद प्रकट किया तब टण्डनजी ने बड़ी ओजस्विता के साथ और संयत भाषा में उन्हें ऐसा सटीक उत्तर दिया कि टण्डनजी का भाषण समाप्त होते ही वह मौन धारण किये उठ चले। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति का यथार्थ मूल्यांकन करने वाला वह भाषण सचमुच मर्मस्पर्शी था। उस उपयुक्त अवसर की टण्डनजी की तेजस्विता देख हिन्दी-प्रेमियों का हृदय गर्वोल्लास से स्पन्दित होने लगा। उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का विशद वर्णन करते हुए कहा था कि काँच के चमकीले टुकड़ों की असंख्य राशियाँ भी एक अमूल्य रत्न की बराबरी नहीं कर सकतीं—ग्रन्थों की संख्यावृद्धि से ही कोई साहित्य सम्पन्न नहीं होता—सर्वोत्तम कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी साहित्य को महिमा-मण्डित कर सकते हैं—हिन्दी का रामचरितमानस अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रन्थ-समुदाय से बढ़ा-चढ़ा है—अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी विश्व-साहित्य के सामने भी अपना सिर ऊँचा कर

सकती है

वस्तुत वह भाषण रेकार्ड करने योग्य था। मैंने तो उसका अतिशय संक्षिप्त आशय-मात्र यहाँ लिखा है। उनके इस प्रकार के अनेक भाषणों की चर्चा करने के लिए यहाँ स्थान ही नहीं है। हिन्दी क निमित्त हुए उनके भाषण यदि लिपिबद्ध और संगृहीत होते तो साहित्य की एक अमूल्य निधि होते।

यदि यह कहा जाए कि हिन्दी टण्डनजी की साँस है तो अत्युक्ति न होगी। वह जहाँ कहीं चाहे जिस परिस्थिति में रहे उनके चिन्तन का विषय हिन्दी-हित ही रहा और किसी प्रकार हिन्दी उनके ध्यान से न हटी। जब वह विधान-सभा के अध्यक्ष थे कांग्रेस क सभापति थे केन्द्रीय संसद में थे कहीं हिन्दी को न भूले। हिन्दी के लिए उन्होंने राष्ट्रपतित्व तक को त्याग दिया। अपमान का भी ध्यान छोड़कर हिन्दी का भलाई पर ही निगाह रखना उन्हीं के समान वीतराग तपस्वी का काम है।

उन्होंने भारतीय संस्कृति-सम्मेलन की स्थापना करके स्वदेशवासियों के नैतिक उत्थान का जो प्रयास किया वह भी उनक तपोमय जीवन का एक मुख्य प्रसंग है। उस मुख्य संस्था की समासिक पत्रिका 'भारतीय संस्कृति' और उसके वार्षिक अधिवेशनों क सभापतियों के भाषणों से साहित्य की जो श्रीवृद्धि हुई है वह उपेक्षणीय नहीं है। उदाहरणार्थ डॉक्टर भगवानदास का भाषण भारतीय संस्कृति का स्फटिक-स्वच्छ स्वरूप प्रदर्शित करनेवाला एक अभूतपूर्व निबन्ध है। उक्त सम्मेलन से चुने-चुने विद्वानों द्वारा सांस्कृतिक साहित्य तैयार कराने का सर्वाधिक श्रेय टण्डनजी को ही है।

दुर्भाग्य सन् १९५४ म राजर्षि टण्डनजी पटना पधारे और बिहार सरकार क वित्त-मन्त्री डॉक्टर अनुग्रहनारायणसिंह (अब स्वर्गीय) क अतिथि हुए। मैं स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। चरण-स्पर्श करते समय उन्होंने सहसा मुझे नहीं पहचाना। जब निवासस्थान पर उनको पता चला तब वह दोपहर क समय अचानक बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के कार्यालय में मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुँच गए। कहने लगे कि मैंने भीड़ में तुम्हें पहचाना नहीं अब तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है? मैं उनका

सौहार्द और सौजन्य देख अवाक् रह गया। उनकी सेवा में परिषद् की पुस्तकें बराबर भेजता ही रहता था। जो नई छपी पुस्तकें भेंट कीं उन्हें समर्पित कर आशीर्वाद की याचना की तो भाव-विभोर होकर ग्रन्थ-प्रकाशन की सराहना करने लगे। फिर दूसरे ही दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अन्तर्गत मेरी स्वर्गीया धर्मपत्नी के नाम पर जो 'ब्रजमादेवी साहित्य-गोष्ठी' स्थापित हुई उसका उद्घाटन करते हुए उन्होंने अपने भाषण में साहित्य-सेवा के लिए निष्कलंक चरित्र की अनिवार्य आवश्यकता पर ही विशेष बल दिया। उनका प्रत्येक वाक्य उनके अन्तस्तल का दर्पण था।

उनकी अनन्त स्मृतियों में से ये कुछ बिखरे फूल चुनकर मैं आज उनके आराध्य चरणों पर सविनय यथामुमनांजलि समर्पित करते हुए उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। परमात्मा उन्हें चिरायु करके हिन्दी को सपूती बनी रहने दे यही मेरी आन्तरिक प्रार्थना और शुभ कामना है।[1]

राजर्षि टण्डन आदर्श चरित्र की प्रतिमूर्ति थे

राजर्षि टण्डनजी राष्ट्रभाषा हिन्दी के अद्वितीय भक्त थे। हिन्दी के कट्टर संरक्षक पृष्ठपोषक होने के कारण ही वह राजनीति के क्षेत्र से अलग होने को विवश कर दिये गए। यदि हिन्दी के तिरस्कार का हथौड़ा उनके हृदय पर लगातार चोट न करता तो वह अभी दम न तोड़ते। अन्तिम समय में जब वह रोगशय्या पर असमर्थ पड़े थे हिन्दी पर अन्याय होते देख-सुनकर भीतर-ही-भीतर घुलते रहे। उनको हिन्दी प्राणों से भी प्यारी थी। उसी के लिए उन्होंने साहित्य-सम्मेलन से महात्मा गांधी के सम्बन्ध-विच्छेद का असह्य दुःख सहन किया। उसी के लिए वह देश के कर्णधारों की आँखों के काँटा बने। भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद उन्हीं के अथक प्रयास से मिला पर अपनी परम प्यारी

---

1. प्रसारण : ११ अक्टूबर १९६०—साप्ताहिक भारत (राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन परिशिष्ट) प्रयाग।

हिन्दी को जिस रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते थे, उस रूप में उसे उन्हें नहीं देखने दिया गया। उनके अपूर्व त्याग का तिरस्कार हुआ उनकी वंदनीय सेवा और तपस्या का तिरस्कार हुआ। जब से देश स्वतन्त्र हुआ तभी से वह हिन्दी के समुचित अभ्युदय के सुनहले सपने देखने लगे। हिन्दी के हितार्थ उनके मन में जितनी आशाएँ और कल्पनाएँ थीं वे यदि सफल तथा साकार हुई होतीं तो निश्चय ही वह शतायु होते। उनके सपनों का महल निर्ममता से ढहाया गया उनके देहावसान के बाद यह कठोर सत्य प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के समक्ष आप प्रत्यक्ष हो उठा है। कोई सत्य को माने ही अब न माने न कहे-सुने पर यह सर्वथा निर्विवाद है। हिन्दी साहित्यसेवी अपनी अन्तरात्मा से पूछने पर सहज ही इसका साक्षात्कार कर रहे हैं आज।

प्रत्येक व्यक्ति सचाई के साथ सोच-समझकर अनुमान कर सकता है कि जिस हिन्दी को राजर्षि अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रिय मानते थे, उसको अपनी बूढ़ी आँखों से अपदस्थ होते देखकर उन्हें कैसी मर्मवेदना हुई होगी। उनकी मानसिक यन्त्रणा की कल्पना भी मर्मभेदी बाण पड़ती है। मौन रहकर वह हिन्दी के प्रति अपने राष्ट्र का रुख देखते रहे। जब उनकी आखिरी साँस चल रही थी तब आकाशवाणी की विकृत हिन्दी का नया घाव उनके जर्जर हृदय को और भी चूर चूर कर गया। चलते चलते भी शान्ति की अनुभूति नहीं होने पाई। जिसके कलेजे पर बार-बार वृश्चिक दंश हो उसकी पीड़ा और अशान्ति की थाह पाना इस हृदयहीन युग के लिए सम्भव नहीं।

विगत वर्ष महाकवि निराला को देखने मैं प्रयाग गया था। उसी समय राजर्षि के दर्शन करने भी गया। उनके पास पंडित मौलिचन्द्र शर्मा बैठे हुए थे। साहित्य-सम्मेलन की चर्चा छिड़ी थी। शर्माजी से वह कभी-कभी कुछ शब्दों में बोलते थे। अस्पष्ट मन्द स्वर उनकी अशक्तता का द्योतक था। देश में हिन्दी की परिस्थिति सुनकर उनका मुखमण्डल विवर्ण हो गया। पलंग पर वह मसनद के सहारे बैठे थे। हिन्दी का हाल सुनते-सुनते वह साँस खींचकर लेट गए। दाहिने हाथ की अंगुलियों को आड़ी-तिरछी करके शून्य में हिला दिया और आँखें मूँद लीं। उनकी

रमी हुई थी।

उनकी कल्पना में हिन्दी का जो उज्ज्वल भविष्य था उसको वह अपने जीवनकाल में प्रत्यक्ष न देख सके। हिन्दी के लिए वह जैसे रंगीन सपने देखा करते थे वैसे सपनों को भी साकार होते न देख पाए। मरते दम तक उनके कलेजे पर हिन्दी की उपेक्षा की चोट कसकती-कचोटती रही। अन्तिम क्षणों में भी उनके प्राण शान्ति का अनुभव न कर सके। हिन्दीवालों को अपने सर्वश्रेष्ठ नेता की ऐसी कारुणिक विवशता कभी भूल नहीं सकती। स्वाभाविक मृत्यु तो इस मरणलोक का सहज धर्म ही है किन्तु मर्मघाती यन्त्रणा से व्यग्र रहकर घुटते-घुटते मरना बड़ा हृदयवेधी होता है। इसीलिए हम हिन्दीवालों को किसी तरह धीरज नहीं बँधता।

टण्डनजी भारत राष्ट्र के स्वतन्त्रता-संग्राम के एक प्रमुख सेनानी थे। उन्हें अपनी लेखनी से हिन्दी की विशेष सेवा करने का अवसर नहीं मिल पाया पर अपनी वाणी से उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वह सजग प्रहरी थे। आप उन्हें उसका प्रतिपालक पिता सम्पोषक संरक्षक अथवा संवर्द्धक जो कुछ भी कहें, उनके लिए उपयुक्त होगा फिर भी कम ही होगा। उन्होंने उसके माध्यम से हिन्दी-हितार्थ जो प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्य किये कराये हैं, वे ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यद्यपि 'मिश्रबन्धुविनोद' के अतिरिक्त हिन्दी के अन्यान्य साहित्यिक इतिहासों में उनकी स्पृहणीय हिन्दी-सेवा का यथोचित वर्णन नहीं पाया जाता—और 'विनोद' में भी साधारणतया उल्लेख-मात्र ही है—तथापि साहित्याकाश की दिव्योज्ज्वल नक्षत्र-पंक्तियों में यह अमर लेख अंकित रहेगा कि टण्डनजी ने हिन्दी भाषा के कल्पवृक्ष को अपने शरीर के एक-एक रक्तबिन्दु से सींचकर उसे पल्लवित पुष्पित और फलित किया था। आज भी प्रत्येक सहृदय साहित्यिक व्यक्ति हिन्दी-हित-साधन में उनके आदर्श आत्मोत्सर्ग का स्मरण करके मन-गौरव का अनुभव करते हुए उनके त्यागमय जीवन के समक्ष नतमस्तक है। त्याग और तप की दृष्टि से वह हिन्दी-जगत् के महात्मा गांधी थे।

सन् १९१४ में मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य लखनऊ के पाँचवें भारतीय साहित्य-सम्मेलन में प्राप्त हुआ था। कविवर पंडित श्रीधर पाठक उस महाधिवेशन के अध्यक्ष थे। बाबू श्यामसुन्दरदासजी वहाँ कालीचरण हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। उसी विद्यालय के प्रशस्त प्रांगण में महासभा-मण्डप था। उर्दू के उस प्राचीन गढ़ में हिन्दी की सर्व भाषा-शिरोमणिता और व्यापकता पर टण्डनजी का जो प्रभावशाली भाषण हुआ था वह समागत प्रतिनिधियों के बीच बराबर चर्चा का विषय बना रहा। उर्दू-प्रेमी साहबों ने उसी समय एक खास सभा करके अपने जो मनोभाव व्यक्त किये थे उनमें से एक-एक बात का यथार्थ उत्तर टण्डनजी ने अपने दूसरे दिन के सार्वजनिक भाषण में ऐसी मिठास के साथ दिया कि उर्दू के हिमायती विद्वान् उनसे प्रतिनिधि-शिविर में मिलकर और शुक्रिया अदा करने पधारे थे। वह उर्दू के विरोधी नहीं थे उसे तो वह हिन्दी की ही एक विशिष्ट शैली मानते थे। उनके अनेक भाषणों में भाषा-सम्बन्धी उनके उदार विचार सुने जा चुके हैं। उस समय भी उन्होंने कहा था कि हिन्दीवाले अनगिनत अरबी-फारसी शब्दों को पचाये हुए हैं पर उर्दूवाले अप्रचलित और दुरूह शब्दों से अपनी भाषा को क्लिष्ट और बोझिल बनाकर हिन्दी से उसे अलग करते जा रहे हैं। फिर उस में सम्मेलन के पण्डाल में कविवर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी पर किये गए उर्दूवालों के आरोपों का पद्यबद्ध उत्तर ऐसे विनोदपूर्ण ढंग से दिया था कि उनके आशुकवित्व का चमत्कार देख सुनके ही उपस्थित उर्दू प्रेमी बन्धु 'वाह-वाह' कर उठे थे। टण्डनजी और पूर्णजी ने उर्दू के किले में हिन्दी का झण्डा फहराया तथा उर्दू के आगे हिन्दी ने भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया।

पुनः अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ही कलकत्तावाले एकादश अधिवेशन में भी जिसके सभापति डॉक्टर भगवानदास थे प्रतिष्ठित बंगीय विद्वान् सर देवीप्रसाद सर्वाधिकारी ने बंग भाषा के साहित्य की समृद्धि-वृद्धि का गुणगान करते हुए हिन्दी-साहित्य के अभावों पर पश्चात्ताप तथा खेद प्रकट किया तब टण्डनजी ने बड़ी मार्मिकता के साथ और संयत भाषा में उन्हें ऐसा सटीक उत्तर दिया कि टण्डनजी क

भाषण समाप्त होते ही वह मौन धारण किये उठ चले। हिन्दी की साहित्यिक सम्पत्ति का यथार्थ मूल्यांकन करनेवाला वह भाषण सचमुच मर्मस्पर्शी था। उस उपयुक्त अवसर की टण्डनजी की तेजस्विता पर हिन्दी प्रेमियों का हृदय गर्वोल्लास से स्पन्दित होने लगा। उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक ऐश्वर्य का विशद वर्णन करते हुए कहा था कि 'कांच के चमकीले टुकड़ों की असंख्य राशियाँ भी एक अमूल्य रत्न की बराबरी नहीं कर सकतीं—ग्रन्थों की संख्या-वृद्धि से ही कोई साहित्य समृद्धशाली नहीं होता—सर्वोच्च कोटि के दो-चार ही लोकप्रिय ग्रन्थ किसी साहित्य को महिमा-मण्डित कर सकते हैं—हिन्दी का 'रामचरितमानस' अकेला ही अन्य भाषाओं के ग्रन्थ-समुदाय से लोहा ले सकता है—अपने प्राचीन साहित्य के बल पर हिन्दी-विश्व-साहित्य के सामने भी अपना सिर ऊँचा कर सकती है।" फिर सम्मेलन के बाहर की सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए उन्होंने बंगला और हिन्दी के साहित्य का जो तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था वह भी उनकी गहन अध्ययनशीलता का ही परिचायक था। हिन्दी के चालू साहित्य पर बंगला का प्रभाव स्वीकार करते हुए उन्होंने बंगला के काव्य-साहित्य पर भी विद्यापति कबीर, मीरा आदि भक्त और सन्त हिन्दी-कवियों के स्पष्ट प्रभाव का सप्रमाण संकेत किया था जिसे सुनकर 'बारोपा-बस्तर' के सम्पादक श्री कार्तिक चरण मुखोपाध्याय (अब स्वर्गीय) ने टण्डनजी के स्वाध्याय की गम्भीरता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मुग्ध स्वर में कहा था कि ऐसे ही समन्वय-वादी विद्वान् अपनी एकता-विधायिनी वाणी से बंगीय साहित्यसेवियों के हृदय पर हिन्दी का सिक्का जमा सकते हैं। टण्डनजी हिन्दी के पक्ष में भी दुराग्रही नहीं थे पर हिन्दी की महत्ता के प्रतिपादन में उनके युक्तियुक्त तर्क बड़े अचूक होते थे। कोई प्रचण्ड तार्किक भी उनसे हिन्दी की हीनता नहीं स्वीकार करा सकता था। वह तो स्वयं ही समस्त भारतीय भाषाओं के साथ हिन्दी का सौहार्द स्थापित करना चाहते थे। हिन्दी-विषयक उनके भाषण वस्तुतः रेकर्ड करने योग्य होते थे। उनके भाषण यदि संकलित और प्रकाशित हो सकते तो निश्चय ही साहित्य की अमूल्य निधि होते।

भारतीय साहित्य-सम्मेलन के प्रत्येक अधिवेशन में टण्डनजी अनिवार्य रूप से सम्मिलित होते थे। उनके मंच से उनके भाषण जिन लोगों ने सुने हैं वे लोग आज भी अनुभव कर रहे होंगे कि हिन्दी की समस्याओं पर वैसी तन्मयता और दृढ़ ममता के साथ हृदयग्राही भाषण करनेवाले अब इने-गिने ही हैं। चाहे वह जहाँ-कहीं जिस-किसी परिस्थिति में रहे हिन्दी पर ही उनका ध्यान केन्द्रित रहा। जब वह उत्तर प्रदेश में विधान सभा के अध्यक्ष थे कांग्रेस के सभापति थे केन्द्रीय संसद में थे लाला लाजपतराय की पीपुल्स-सोसाइटी के प्रधान थे, भारतीय संस्कृति सम्मेलन के संचालक थे कहीं भी हिन्दी उनके ध्यान से न उतरी। हिन्दी के लिए ही उन्होंने महान्-से-महान् पद को त्याग दिया। अपमान का भी ध्यान छोड़कर हिन्दी की भलाई पर ही निगाह रखना उन्हीं के समान वीतराग तपस्वी का काम था। उनकी दिनचर्या भी तपस्वियों और ऋषियों के समान ही थी। दिल्ली में भारतीय संस्कृति-सम्मेलन की स्थापना करके उन्होंने स्वदेशवासियों के नैतिक उत्थान का जो प्रयास किया वह भी उनके तपोमय जीवन का एक मुख्य प्रसंग है। उस संस्था की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'भारतीय संस्कृति' और उसके वार्षिक अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों से हिन्दी-साहित्य की जो अकिञ्चित् श्रीवृद्धि हुई वह उपेक्षणीय नहीं है। उदाहरणार्थ, डॉक्टर भगवानदासजी का भाषण भारतीय संस्कृति का स्फटिक-स्वच्छ स्वरूप प्रदर्शित करने-वाला एक अभूतपूर्व निबन्ध है। उक्त सम्मेलन से परिमित परिमाण में ही सही पिने मुझे अधिकारी विद्वानों द्वारा सांस्कृतिक साहित्य तैयार कराने का सर्वाधिक श्रेय टण्डनजी को ही है। एक बार मुझे दिल्ली जाने का अवसर मिला तो उनके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे मित्र पंडित चन्द्रशेखर शर्मा 'सारस्वत' वहाँ भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान-मन्त्री और 'भारतीय संस्कृति' के सम्पादक भी थे। वही मुझे उनकी सेवा में ले गए। प्रायः परिचित व्यक्ति से भेंट होने पर बड़े लोग भी उसके कार्यकलाप अथवा जीवन की गतिविधि के सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं पर टण्डनजी ने बिहार में हिन्दी की प्रगति के विषय में ही जानना चाहा बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्र

भाषा-परिषद् की साहित्य-सेवा की ही बातें कहते-सुनते रहे। वर्तमान वैज्ञानिक युग के नाम पर भारतीय संस्कृति के प्रति आधुनिक युग की उदासीनता से वह चिन्तित जान पड़े और उनकी बातों से यह भी ध्वनित हुआ कि भारत की राजधानी दिल्ली में भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य का एक सुसंचालित प्रचार-केन्द्र होना अत्यावश्यक है। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि सारस्वतजी भी उनसे पहले ही संसार छोड़ गए। वही टण्डनजी की प्रेरणा और सहायता से उक्त संस्था और पत्रिका चलाते थे।

हिन्दी-जगत् को भली भाँति विदित है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आजीवन साहित्य-सम्मेलन से उदासीन और तटस्थ रहे। उनको सम्मेलन का सभापति बनाने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए, पर कभी उन्होंने सभापतित्व स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन के अधिवेशनों में सम्मिलित होने से भी वह विमुख रहे। किन्तु हिन्दी के सच्चे सेवक की साहित्य-सेवा के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त आदर-भाव था। इसी कारण जब बाबू श्यामसुन्दरदास प्रयाग में छठे सम्मेलन के सभापति हुए तब द्विवेदीजी उस में सहर्ष पधारे। बाबू साहब के साथ उनका मतभेद जग-जाहिर था; फिर भी वह बाबू साहब की अनिर्वचनीय हिन्दी-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना से अधिवेशन में निस्संकोच उपस्थित हुए।

मैं भी उस महोत्सव में उपस्थित था। यह लाला रामप्रसाद के बाग में हुआ था। उस दर्शनीय समारोह में भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी आये थे। उस समय के सामयिक पत्रों में यह बात छपी थी कि द्विवेदीजी के हृदय में श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा के लिए जो प्रतिष्ठा थी उसी को प्रकट करने की इच्छा से वह सर्वविदित वैमनस्य को विस्मृत कर सम्मेलन में चले आए। फिर उस समय के कई साल बाद जब सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर में हुआ तब भी सभापतित्व के लिए द्विवेदीजी से आग्रह किया गया था। पर उनका संकल्प तो शम्भु-शरासन-सदृश अटल था। अन्त में टण्डनजी उसके सभापति बनाये गए। उस युग के पत्रों के पाठकों को यह स्मरण होगा कि टण्डनजी

के निर्वाचन को सार्वदेशिक समर्थन प्राप्त हुआ था। जब द्विवेदीजी को टण्डनजी के मनोनयन का समाचार मिला तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। इतना ही नहीं जब उनसे स्वागताध्यक्ष होने के लिए निवेदन किया गया तब सम्मेलन की छत्रछाया में किसी प्रकार का कोई पद अंगीकृत न करने की अपनी प्रतिज्ञा को बिसारकर वह स्वागताध्यक्ष बन गए। उन दिनों के पत्र-पाठकों को स्मरण होगा द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा था कि सम्मेलन के मण्डप में कोई पदाधिकारी होकर प्रवेश करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है पर जब टण्डनजी सभापति होकर हमारे नगर में आ रहे हैं तब उनका स्वागत करना मेरा कर्तव्य है क्योंकि हिन्दी को भारतव्यापी बनाने में उनका भगीरथ प्रयास प्रत्येक हिन्दी-हितैषी के लिए वन्दनीय है। आधुनिक पाठकों को भी ज्ञात होगा कि द्विवेदीजी बहुत दिनों तक यहीं (कानपुर) में रहे थे जहाँ उनका 'सम्पादकीय प्रेस' भी था और उनका वह पत्र 'सरस्वती' में भी बराबर छपता रहा। उनका वह स्वागत-भाषण द्रष्टव्य है, जिसमें टण्डनजी के प्रति उनके उदात्त उद्गार अंकित हैं।

जुलाई सन् १९५४ में टण्डनजी पटना पधारे थे। बिहार राज्य के वित्त-मन्त्री डॉक्टर अनुग्रहनारायणसिंह (अब स्वर्गीय) के अतिथि हुए। मैं स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। [illegible]। चरण स्पर्श करते समय उन्होंने भीड़ में सहसा मुझे नहीं पहचाना। निवासस्थान पर उन्होंने मेरा हाल पूछा और जब मालूम हुआ कि स्टेशन पर मैं भी मौजूद था तब दोपहर की कड़ी धूप में ही अचानक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के कार्यालय में मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुँच गए। कहने लगे कि "भीड़ में तुमको पहचाना नहीं क्योंकि चश्मा नहीं था। तुम्हारी यह परिषद् हिन्दी की अच्छी सेवा कर रही है। अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है?" मैं उनका आकस्मिक शुभागमन और सौहार्द तथा सौजन्य देख अवाक् रह गया।

मैं नवम्बर, सन् १९६० में निरालाजी को देखने प्रयाग गया था। फिर पं० वाचस्पति पाठक के साथ टण्डनजी के दर्शन करने भी गया। सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा वहाँ विराजमान थे। शर्माजी उनसे चर्चा कर रहे थे कि सम्मेलन का उद्धार शीघ्र ही होने

भाषा-परिषद् की साहित्य-सेवा की ही बातें कहते-सुनते रहे। वर्तमान वैज्ञानिक युग के नाम पर भारतीय संस्कृति के प्रति आधुनिक युग की उदासीनता से वह चिन्तित जान पड़े और उनकी बातों से यह भी ध्वनित हुआ कि भारत की राजधानी दिल्ली में भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य का एक सुसंचालित प्रचार-केन्द्र होना अत्यावश्यक है। किन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा कि शास्त्रीजी भी उनसे पहले ही संसार छोड़ गए। वहीं टण्डनजी की प्रेरणा और सहायता से उक्त संस्था और पत्रिका चलाते थे।

हिन्दी-जगत् को भली भाँति विदित है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आजीवन साहित्य-सम्मेलन से उदासीन और तटस्थ रहे। उनको सम्मेलन का सभापति बनाने के लिए अनेक बार प्रयत्न हुए पर कभी उन्होंने सभापतित्व स्वीकार नहीं किया। सम्मेलन के अधिवेशनों में सम्मिलित होने से भी वह विमुख रहे। किन्तु हिन्दी के सच्चे सेवक की साहित्य-सेवा के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त आदर भाव था। इसी कारण जब बाबू श्यामसुन्दरदास प्रयाग में छठे सम्मेलन के सभापति हुए तब द्विवेदीजी उस में सहर्ष पधारे। बाबू साहब के साथ उनका मतभेद जग जाहिर था फिर भी वह बाबू साहब की अनिर्वचनीय हिन्दी-सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की भावना से अधिवेशन में निस्संकोच उपस्थित हुए।

मैं भी उस महोत्सव में उपस्थित था। वह लाला रामप्रसाद के बाग में हुआ था। उस दर्शनीय समारोह में भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी आये थे। उस समय के सामयिक पत्रों में यह बात छपी भी थी कि द्विवेदीजी के हृदय में श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी-सेवा के लिए जो प्रतिष्ठा थी उसी को प्रकट करने की इच्छा से वह सर्वविदित अनबनाव को विस्मृत कर सम्मेलन में चले आए। फिर उस समय के कई साल बाद जब सम्मेलन का अधिवेशन कानपुर में हुआ तब भी सभापतित्व के लिए द्विवेदीजी से आग्रह किया गया था। पर उनका संकल्प तो शम्भु-शरासन-सदृश अटल था। अतः टण्डनजी उसके सभापति बनाए गए। उस युग के पत्रों के पाठकों को यह स्मरण होगा कि टण्डनजी

के निर्वाचन को सार्वदेशिक समर्थन प्राप्त हुआ था। जब द्विवेदीजी को टण्डनजी के मनोनयन का समाचार मिला तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। इतना ही नहीं जब उनसे स्वागताध्यक्ष होने के लिए निवेदन किया गया तब सम्मेलन की छत्रछाया में किसी प्रकार का कोई पद अंगीकृत न करने की अपनी प्रतिज्ञा को बिसारकर वह स्वागताध्यक्ष बन गए। उन दिनों के पत्र-पाठकों को स्मरण होगा द्विवेदीजी ने स्पष्ट कहा था कि सम्मेलन के मण्डप में कोई पदाधिकारी होकर प्रवेश करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है पर जब टण्डनजी सभापति होकर हमारे नगर में आ रहे हैं तब उनका स्वागत करना मेरा कर्तव्य है क्योंकि हिन्दी को भारतव्यापी बनाने में उनका भगीरथ-प्रयत्न प्रत्येक हिन्दी-हितैषी के लिए वन्दनीय है। आधुनिक पाठकों को भी ज्ञात होगा कि द्विवेदीजी बहुत दिनों तक यहीं (कानपुर) में रहे थे वहाँ उनका 'कर्मयोग प्रेस' भी था और उनका यह पत्र 'सरस्वती' में भी बराबर छपता रहा। उनका वह स्वागत-भाषण द्रष्टव्य है जिसमें टण्डनजी के प्रति उनके उदात्त उद्गार अंकित हैं।

जुलाई सन् १९५४ में टण्डनजी पटना पधारे थे। बिहार राज्य के वित्त-मन्त्री डॉक्टर अनुग्रहनारायणसिंह (अब स्वर्गीय) के अतिथि हुए। मैं स्टेशन पर उनके स्वागतार्थ गया था। वह सपत्नीक आये थे। परन्तु स्वागत करते समय उन्होंने भीड़ में सहसा मुझे नहीं पहचाना। निवासस्थान पर उन्होंने मेरा हाल पूछा और जब मालूम हुआ कि स्टेशन पर मैं भी मौजूद था तब दोपहर की कड़ी धूप में ही अचानक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के कार्यालय में मुझे आशीर्वाद देने के लिए पहुँच गए। कहने लगे कि "मैंने भीड़ में तुमको पहचाना नहीं क्योंकि चश्मा नहीं था। तुम्हारी यह परिषद् हिन्दी की अच्छी सेवा कर रही है, अब तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक है ? मैं उनका आकस्मिक शुभागमन और सौहार्द तथा सौजन्य देख अवाक् रह गया।

मैं नवम्बर, सन् १९६० में निरालाजी को देखने प्रयाग गया था। निदान पं० वाचस्पति पाठक के साथ टण्डनजी के दर्शन करने भी गया। सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री पं० मौलिचन्द्र शर्मा वहीं विराजमान थे। शर्माजी उनसे चर्चा कर रहे थे कि सम्मेलन का उद्धार शीघ्र ही होने

जा रहा है। वह प्रसन्न-मुद्रा में थे, पर साँसों में ही बोलते थे। जब हिन्दी की वर्तमान स्थिति पर बातें होने लगीं तब उनका मुखमण्डल विवर्ण हो गया। उनके चेहरे की शिराएँ तन गईं—बैठे थे वे दो लम्बी साँस खींच कर लेट गए। उनके दिल का दर्द पहचानकर पाठकजी ने कहा भी कि अब आप इन सारी चिन्ताओं से मुक्त हो जाइए। किन्तु वह जीवनमुक्त महापुरुष हिन्दी की चिन्ता में ही सतत तल्लीन रहकर संसार से ही मुक्त हो गया। क्या उनको बातों से समझाकर कोई आश्वस्त कर सकता था? उनको विश्वास न था कि जिस राष्ट्र की सेवा में उन्होंने अपना जीवन होम दिया वही राष्ट्र उनकी भावना को ठेस पहुँचाएगा। वह सच्चे अर्थ में कर्मयोगी और कर्मवीर पुरुषोत्तम थे पर साहित्यिक रुचि के मनुष्य होने के कारण उनकी भावना बड़ी सुकुमार थी। हिन्दी को अपने ही घर में अपदस्थ होते देखकर वह बेचारी सुकुमारी छटपटाकर अथाह में डूबती हुई-सी उनके प्राणों को खींचती रही और अन्त में उन्हें ले ही डूबी।[1]

---

१. लेखन : २८ अगस्त, १९६२।
प्रकाशन : १६ सितम्बर १९६२—'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' नई दिल्ली।

श्री राजा राधिकारमणजी

सूर्यपुरा (शाहाबाद) के श्रीमान् राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह हिन्दी-संसार के लब्धकीर्ति कलाकार और उपन्यासकार हैं। वह गत पचास वर्षों से हिन्दी-साहित्य की सेवा में संलग्न हैं। उनकी कहानियाँ और उनके उपन्यास हिन्दी के कथा-साहित्य में अपने रंग-ढंग के अतुलनीय हैं। उनका रचा हुआ संस्मरणात्मक साहित्य भी हिन्दी में अपूर्व ही है। उनकी भाषा-शैली हिन्दी में बिलकुल निराली है। वह भाषा के स्वरूप को बड़े मनोयोग से गढ़ते और सँवारते हैं तथा उसमें नक्काशी और मन-बढ़ाई भी करते जाते हैं। उनकी रचनाओं के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा सदा दासी की तरह उनके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहती है।

राजा साहब अब सत्तर वर्ष के हो चले हैं। अपने लम्बे जीवन में उन्होंने नाना प्रकार की परिस्थितियों से गुजरने के अवसर पाये हैं। अतः उनके लौकिक अनुभव बड़े परिपक्व और ठोस हैं। उन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में उनकी सिद्धहस्तता अपने ढंग की अकेली है। उन्हें चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजन-कौशल प्रदर्शित करने का ऐसा शौक है कि दिन रात अपनी रचना में बेल-बूटे उगाने की धुन में ही मस्त रहते हैं। भाषा में कसीदा काढ़ना ठट्ठा नहीं है। इसके लिए मुहावरों की बन्दिश का अभ्यास और सूक्तियों की सूझ-बूझ तथा मनोगत भाव की धारा में गहराई तक पैठने की शक्ति चाहिए। कलाकार को यह शक्ति चिन्तनशीलता और तल्लीनता से प्राप्त होती है। यही उनके स्वाभाविक गुण हैं।

मैंने राजा साहब को सबसे पहले सन् १९०२ में देखा था। मैं जिस हाईस्कूल में पढ़ता था उसके पिछवाड़े की कोठी में वे दोनों भाई

रहते और आरा जिला-स्कूल में पढ़ते थे। जिस शानदार फिटन पर वे लोग स्कूल आते-जाते थे उसमें दो मस्ताने काले घोड़े जुते रहते थे जिनकी फरफराती हुई चोटियाँ और मस्ती की भंग-भंगी देखने के लिए पथिक भी ठिठक जाते थे। दोनों भाइयों की एकरूपता किशोरावस्था की सुन्दरता तथा राजसी वेषभूषा की शोभा हम स्कूली लड़कों के लिए बड़े कुतूहल की वस्तु थी।

जहाँ तक स्मरण है, सन् १९२० में बिहार-प्रादेशिक-हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का दूसरा महाधिवेशन बेतिया (चम्पारन) में हुआ था। उसके सभापति राजा साहब ही थे। उनके साथ आरा नगर के कई साहित्यसेवी बेतिया गये थे। पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा पण्डित रामदहिन मिश्र पंडित पारसनाथ त्रिपाठी आदि के साथ मैं भी गया था। राजा साहब सबको अपने साथ प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ले गए थे और बेतिया के राजमहल में सबको अपने साथ ही ठहराया था। उसी समय उनसे निकट सम्पर्क स्थापित हुआ। वह राज्य के अतिथि थे। स्टेशन से राज महल तक सभापति का जो जुलूस चला उसमें बेतिया-जैसे प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित राज्य का वैभव पूर्ण रूप से प्रदर्शित था। सम्मेलन के किसी वार्षिक अधिवेशन में वैसा भव्य जुलूस नहीं देखा गया। राज्य के आतिथ्य का सुख हम साहित्यिक व्यक्तियों ने भी भोगा। राजा साहब का भाषण ऐसा आकर्षक हुआ कि उस युग के वर्षों में उसकी जाती चर्चा रही।

उस समय से भी पहले उनकी ललित कहानियों का एक संग्रह आरा की नागरी-प्रचारिणी-सभा से निकल चुका था। उसका नाम था 'राम-कुसुमावली'। उसके प्रकाशन के बाद हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में उनकी सरस भाषा-शैली की इतनी अधिक प्रशंसा हुई कि अनेक वयोवृद्ध साहित्यकारों के रहते [illegible] भी राजा साहब अपनी चढ़ती जवानी में ही प्रान्तिक सम्मेलन के सभापति मनोनीत कर लिये गए। उक्त कहानी संग्रह के बाद उनकी 'तरंग' और 'नवजीवन' या 'प्रेम-लहरी' नामक पुस्तकों ने भी उनके लिए ऐसी कमनीय कीर्ति अर्जित की कि हिन्दी जगत् के धुरन्धर विद्वानों तथा आलोचकों का ध्यान भी उनकी ओर

आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप वह काशी की नागरी प्रचारिणी-सभा के वार्षिक महोत्सव के भी अध्यक्ष बनाये गए। इतना ही नहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ में भी राजा साहब की भाषा-शक्ति की प्रशंसा की। भाषा की क्षमता और रमणीयता के लिए आचार्य शुक्ल की प्रशंसा प्राप्त करना आसान बात नहीं है। वह भी राजा साहब को अनायास सुलभ हुई।

राजा साहब संस्कृत अँग्रेजी उर्दू फ़ारसी और हिन्दी के बड़े गम्भीर विद्वान् हैं। बंगला भाषा पर तो उनका असाधारण अधिकार है। भाषा की नस-नस पर गहरी निगाह रखनेवाले उनके समान साहित्य-शिल्पी हिन्दी-संसार में बहुत कम हैं। जो कोई उनसे मिलेगा उनकी सहृदयता जिन्दादिली और मिलनसारी से प्रभावित हुए बिना न रहेगा। वह साहित्य-क्षेत्र की विशिष्ट विभूति हैं। भगवान् उन्हें शतायु करें।[1]

१. लेखन : [illegible] अगस्त १९६१।
प्रकाशन : सितम्बर, १९६१—'दृष्टि' मुजफ्फरपुर (बिहार)।

आचार्य श्री नलिनविलोचन शर्मा

नलिनजी के स्वभाव की मधुरता उनकी अपनी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके पिता महामहोपाध्याय पंडित रामावतार शर्मा को मैंने देखा था। वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् थे। उनके निवासस्थान पर प्रायः सन्ध्या-समय पंडितों का जमघट होता था। प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र और पंडित रामवहिन मिश्र तथा पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा के साथ मैं अनेक बार उस दरबार में गया था। वहाँ मैं दर्शक-मात्र था। वहाँ जो शास्त्रीय और साहित्यिक चर्चा होती थी उसका मौन श्रोता भी मैं था। चुपचाप देखने-सुनने के सिवा मेरी वहाँ गति ही कहाँ थी! शर्माजी की मधुर प्रकृति पंडितों को आकृष्ट किए रहती थी। अपनी गम्भीरता से अपनी विद्वत्ता छिपाये हुए वह पंडितों की बातें सुनते रहते थे। कभी-कभी बीच में कहीं छेड़ते और समझाते भी थे। उनकी मधुर वाणी पंडितों को उत्कण्ठित और विस्मित कर देती थी। वह शाही दरबार का दृश्य आज भी आँखों में झलक जाता है। उस समय तक मैं साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पा चुका था। अतः जब कभी मैंने वह विद्वत्सभा देखी मुझे यही अनुभव हुआ कि शर्माजी विश्वविख्यात विद्वान् होने पर भी अपने मधुर व्यवहार से सभी समागत विद्वानों को सन्तुष्ट ही करना चाहते हैं किसी पर अपने पांडित्य की धाक जमाना नहीं चाहते। यही विशेषता नलिनजी में भी थी। मन-ही-मन पिता-पुत्र के व्यक्तित्व का अध्ययन-मनन करके यह बात लिख रहा हूँ निजी अनुभवों के ही आधार पर। मेरा तो यहाँ तक अनुमान है कि नलिनजी अपने पिता से भी अधिक मधुर और गम्भीर थे। उनके और उनके पिता के इस गुण में अन्तर भी था। उनके पिता के मधुर स्वभाव से कोई अनुचित लाभ नहीं उठा सकता था। किन्तु उनके अपने

स्वभाव में जो मिठास थी उससे लोग सुगमता के साथ अनुचित लाभ उठा लिया करते थे। उनकी प्रकृतिगत मधुरता दूसरों के लिए लाभ दायिनी थी पर उनके अपने हित में उससे बाधा पहुँचती थी। उनकी गम्भीरता भी ऐसे प्रसंगों को पचाने के लिए अथाह थी। यदि कभी उनसे कहा भी जाता कि ऐसा मधुर न बनिए जिससे मिट्टी के देवता की तरह लोग तिलक से ही शायद कर दें तो हँसकर रह जाते थे। फिर स्वभाव ज्यों-का-त्यों।

नलिनजी के पास कॉलेजों के प्राचार्य और अध्यापक भी अपनी 'थीसिस' के विषय में सलाह लेने आया करते थे। स्नातक तो आते ही थे साहित्यिक शोध में निर्देश लेने सुदूरवर्ती लोग पत्र लिखकर भी पूछ-ताछ करते थे। आगन्तुक सज्जन अपना प्रयोजन सिद्ध करने की धुन में यह बात भूल जाते थे कि नलिनजी के समय का भी कुछ मूल्य है। रात हो या दिन खाने का समय हो गया या सोने का परीक्षा की कापियाँ जाँचने में देर हो रही हो कहीं बाहर जाने के लिए तैयार होने की उतावली हो वह न किसी की उपेक्षा कर सकते थे और न किसी को हताश। धीर-गम्भीर भाव से यथोचित सुझाव देते चले जाते थे। थीसिसों की रूपरेखा में संशोधन-परिवर्तन-परिवर्द्धन करते भी उन्हें देखा है। उसे आपाद-मस्तक रँग डालते थे। अपने परमावश्यक कार्य का ध्यान रखते हुए भी बला नहीं टालते थे। झल्लाते या झुँझलाते नहीं थे। जो महाशय आते थे वे उनकी मधुरता से तृप्त होकर जाते थे। अस्वस्थता की दशा में भी यह मधुरता का बाना अपना आसन जमाये रहा।

साहित्य-क्षेत्र में उनकी परोपकार-वृत्ति का लेखा-जोखा जोड़ना बड़ा कठिन है। इसी के कारण दिन भर और रात में काफी देर तक उन्हें कार्य-व्यस्त रहना पड़ता था। अतः लिखने-पढ़ने का अधिकतर काम रात में जागकर ही करते थे। सोने का समय पड़ने में बिछावन से सुबह देर तक सोना अनिवार्य हो जाता था। इधर कुछ दिनों से उनको अस्वस्थ रहते देखकर मैंने कई बार उनसे कहा कि रात में जागकर पढ़ने और सुबह में सोने का क्रम बदलिए। किन्तु वह अपनी विवशताएँ बतलाने लगे तो यह कहते न बना कि अपना कार्य-भार हल्का करने के लिए कुछ कामों

को अस्वीकृत कर दीजिए या मित्रों में बाँट दीजिए क्योंकि यह सं वे लिए, वे

अंगीकृत कार्यों को अपनी प्रतिष्ठा और धारणा के अनुकूल ही सम्पन्न करना चाहते थे। उनके पास विविध भाँति के बड़े महत्त्वपूर्ण साहित्यिक काम आते थे और सबको वह स्वयं ही पूरा करते थे। दूसरा कोई उनकी तरह सोच सकता था और न लिख सकता था। उनकी चिन्तन-धारा और विचारधारा तथा लेखन-शैली में उनकी निजी मौलिकता की ही सत्ता व्याप्त थी। अपने ऊपर न्यस्त कार्य की पूर्ति में वह सदा अपनी ही सूझ-बूझ का सहारा लेते रहे। इस प्रकार उन्हें निरन्तर परिश्रम करने में तत्पर रहना पड़ता था। 'साहित्य' के विविध-विषयक लेख प्रायः शोध समीक्षा-प्रधान ही होते थे और उनके संशोधन-सम्पादन में तथा समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकों को मनोयोगपूर्वक पढ़कर उनकी आलोचना लिख में वह अपने मस्तिष्क पर बहुत अधिक श्रम देते थे। साधारण काम भ भी जैसे-तैसे निपटाकर पिण्ड छुड़ाना वह नहीं जानते थे। इसलिए उन्हें खटना तो पड़ता ही था खपना भी पड़ता था। अपने उत्तरदायित्व निर्वाह में सदा सावधान रहने की जो प्रवृत्ति उनमें थी उसके कारण साहित्य-सेवा के छोटे-बड़े नानाविध कार्यों में उन्होंने अपने-आपको खूब खपाया। अपने लिये हुए काम में किसी प्रकार की कोताही करना या कुछ भी कसर रहने देना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था। काम के पूरा होने में कुछ समय भले ही लग जाए, उसे अपने सन्तोष के अनुसार अच्छी तरह पूरा करके ही चैन पाते थे।

मैं लगातार ग्यारह वर्षों तक उनके साथ 'साहित्य' का सम्पाद रहा। वह मुझसे पच्चीस वर्ष छोटे थे तब भी मैंने उनसे बहुत-कुछ सीखा पर उनके पिता की विद्वत्ता तो भारत-प्रसिद्ध थी जिसके तेजस्वी थी में भी उर्वर मस्तिष्क में इधर कई साल से अंकुरित और क्रमशः पुष्ट यह बात होने लगे थे। पुष्पित और फलित होने का समय था ही यहीं तक अनुरू आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के उद्गारानुसार 'हा हन्त हुए गम्भीर थे उपहार'। 'साहित्य' में छपने वाले निबन्धों की पाण्डुलिपि करते समय वह अपनी कसौटी का उपयोग नहीं रहता। उनके पिता था से करते थे। निबन्ध कहानी कविता उपन्यास आद था। विश

सम्बन्ध में उनके अपने निश्चित सिद्धान्त थे जिन्हें कभी प्रसंगवश सुनने पर उनकी मननशीलता का परिचय मिलता था। ऐसे ही प्रसंगों के छिड़ने पर उनके विचारों को सुनने से ज्ञानवृद्धि होती थी। प्राच्य और पाश्चात्य का गहन तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से किया था इसलिए उनके विचार बड़े ठोस होते थे। समीक्षा के क्षेत्र में तो समस्त हिन्दी-संसार में उनका एक स्वतन्त्र स्थान बनता जा रहा था। उपन्यासों की नाड़ी-परीक्षा में वह ऐसे परिपक्व अनुभवी हो गए थे कि कोई नया प्रसिद्ध उपन्यास पढ़ लेने के बाद उनसे उसकी चर्चा चलाने पर उनके तत्सम्बन्धी विचार सुनकर दृष्टिकोण ही बदल जाता था उसका [illegible] भी खुल जाता था और उसकी वास्तविकता भी प्रकट हो जाती थी। इस तरह उनके सुचिन्तित विचार एक नई दृष्टि देते और अपने आलोक से चमत्कृत भी करते थे। अपनी संक्षिप्त समालोचना में भी वह एक-दो पंक्तियों में ही ऐसे पते की बात कह जाते थे कि उससे आलोच्य पुस्तक की सब पकड़ में आ जाती थी। कभी-कभी तो उनका केवल एक ही शब्द ऐसी मार्के की बात व्यंजित कर देता था कि उनकी सूझ की बारीकी पर विस्मय होता था। वह कितने ही ऐसे विपुलार्थबोधक नये शब्द गढ़कर प्रयोग करते थे जो हिन्दी के प्रकाशित साहित्य में कहीं दृष्टिगत नहीं होते थे। उनकी रचनाओं में ऐसे सुदूरसन्धानी व्यञ्जनात्मक शब्द देखे जा सकते हैं।

कुछ ही महीने पहले मैंने एक पत्र लिखकर उन्हें दिया जिसमें उनसे निवेदन किया था कि अस्वस्थता और नेत्र-शक्ति की क्षीणता के कारण अब मैं 'साहित्य' का सम्पादक नहीं रहना चाहता इसलिए ग्यारहवें वर्ष से 'साहित्य' पर मेरा नाम न छापा जाए। यद्यपि मेरी आँख और देह की दशा देखकर कई साल पहले से ही वह मुझसे सम्पादन-सम्बन्धी कोई काम नहीं लेते थे तथापि मुझे यह बहुत खलता था कि उन्हें अकेले ही सारा भार वहन करना पड़ता है, जिसका हानिकारक प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। किन्तु मेरा पत्र पढ़कर उन्होंने मधुर-मधुर हँसते हुए कहा— 'आप तो अभी सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिख ही देते हैं, जब एक भी अक्षर न लिख सकेंगे तब भी नाम छपता रहेगा।" मैं उनके

बन्धुत्व की बड़ाई कहाँ तक करूँ ! वैसा सुहृद अब दुर्लभ है । वैसा स्मित पूर्वाभिलाषी और मधुरालापी व्यक्ति अब कहाँ ! वैसा मित्र-वत्सल और शिष्ट पुरुष साहित्यिक समाज को जन्म करके क्या फिर आयेगा ?

संयोग की बात, एक दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुसंधान-कक्ष में हम दोनों बैठे थे । उन्होंने सहसा कहा कि 'साहित्य' के सम्पादकीय स्तम्भ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ मुझे बहुत पसन्द हैं । मैंने कहा कि आपकी पसन्द ही उनकी सार्थकता है किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी । झट से ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी मुझसे बाजी मार ले जाएगी । इस पर उस दिन तो हम दोनों के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया परन्तु आज उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दंशन हृदय को बड़ा ही व्यथित कर रहा है । क्या मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त वह भविष्य वाणी भी किया करता है ?[१]

१. मूल शीर्षक : 'मधुरता की मंजुल मूर्ति' ।
प्रकाशन : जनवरी-दिसम्बर, १९६२—मासिक 'नई धारा' (नलिन-स्मृति अंक), पटना ।

डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी

डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ और अंग्रेजी साहित्य के विशेषज्ञ होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी प्रतिभा-सम्पन्न कवि, कथाकार, निबन्धकार और आलोचक थे। नवयुग का सुप्रभात उनकी कविता किरणों से उद्भासित हुआ। कथा-साहित्य का प्रवाह-क्षेत्र उनकी कहानियों की मनोवैज्ञानिक धारा से आप्लावित हुआ। उनके निबन्धों और उनकी आलोचनाओं में प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की गहराई मिली। उनकी भाषा में सहज अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना का कौशल पदे-पदे दिखाई पड़ा। उनके विचारों पर उनकी चिन्तनशीलता की छाप स्पष्ट झलकती रही। किन्तु कठिन-कठोर क्षय रोग से आक्रान्त रहने के कारण वह अपनी बहुमुखी प्रतिभा का मनोनुकूल उपयोग न कर सके। विधि-विधान विलक्षण है। जो अपने गम्भीर स्वाध्याय के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में समर्थ था वह महारोग का शिकार होकर विवश रह गया। वह केवल असाध्य रोग के ही शिकार न थे और अन्याय के भी शिकार थे। रोग का प्रभाव तन पर था, अन्याय का मन पर। तन-मन दोनों पर अन्याय का सम्मिलित प्रभाव पड़ा। विचारवान् और समझदार के लिए मानसिक व्यथा की यन्त्रणा असह्य होती है। स्वाभिमान और स्वाधिकार पर कभी अप्रत्याशित ठेस अनुभूतिशील व्यक्ति के हृदय में रह-रहकर कसकती है। उसकी टीस में ग्लानि का विष मिल जाने से भयावह परिणाम होता है। 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'। किन्तु उनकी सहिष्णुता अपार थी। मर्मभेदी पीड़ा को भी अपनी स्वाभाविक मुसकानों में छिपा लेने की कला उन्हें मालूम थी। भले ही मुसकान के बाद उनका चेहरा विवर्ण हो

बन्धुत्व की बड़ाई कहाँ तक करें! वैसा सुहृद अब दुर्लभ है। वैसा स्मित पूर्वाभिभाषी और मधुरभाषी व्यक्ति अब कहाँ! वैसा मित्र-वत्सल और शिष्ट पुरुष साहित्यिक समाज को धन्य करने क्या फिर आयेगा?

संयोग की बात एक दिन बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अनुशीलन-कक्ष में हम दोनों बैठे थे। उन्होंने सहसा कहा कि 'साहित्य' के सम्पादकीय स्तम्भ में स्वर्गीय साहित्य-सेवियों पर लिखी आपकी संस्मरणात्मक टिप्पणियाँ मुझे बहुत पसन्द हैं। मैंने कहा कि आपकी पसन्द ही उनकी सार्थकता है, किन्तु मेरे निधन पर आपको भी वैसी ही टिप्पणी लिखनी पड़ेगी। सुनते ही बोल उठे कि कहीं आपको ही मेरे लिए लिखना पड़ गया तो आपकी अभ्यस्त लेखनी मुझसे बाजी मार ले जाएगी। इस पर उस दिन तो हम दोनों के अट्टहास से कक्ष मुखरित हो गया परन्तु आज उस बात की स्मृति का वृश्चिक-दंशन हृदय को बड़ा ही व्यथित कर रहा है। क्या मनुष्य के अन्तःकरण में व्याप्त ब्रह्म भविष्य वाणी भी किया करता है?[1]

---

१. मूल शीर्षक : मधुरता की मंजुल मूर्ति।
प्रकाशन : नवम्बर-दिसम्बर, १९६९—मासिक 'नई धारा' (बेनीपुरी-स्मृति अंक), पटना।

डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी

डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ और अंग्रेजी साहित्य के विशेषज्ञ तो थे ही राष्ट्रभाषा हिन्दी के भी प्रतिभा-सम्पन्न कवि कथाकार, निबन्धकार और आलोचक थे। नवयुग का सुप्रभात उनकी कविता किरणों से उद्भासित हुआ। कथा-साहित्य का प्रवाह-स्रोत उनकी कहानियों की मनोवैज्ञानिक धारा से आप्लावित हुआ। उनके निबन्धों और उनकी आलोचनाओं में प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की गहराई मिली। उनकी भाषा में गहन अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना का कौशल पदे-पदे दिखाई पड़ा। उनके विचारों पर उनकी चिन्तनशीलता की छाप स्पष्ट झलकती रही। किन्तु कठिन-कठोर श्वास रोग से आक्रान्त रहने के कारण वह अपनी बहुमुखी प्रतिभा का मनोनुकूल सदुपयोग न कर सके। विधि-विधान विलक्षण है। जो अपने गम्भीर स्वाध्याय के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में समर्थ था वह महारोग का शिकार होकर विवश रह गया। वह केवल असाध्य रोग के ही शिकार न थे घोर अन्याय के भी शिकार थे। रोग का प्रभाव तन पर था अन्याय का मन पर। तन-मन दोनों पर अन्याय का सम्मिलित प्रभाव पड़ा। विचारवान् और समझदार के लिए मानसिक दंश की यन्त्रणा असह्य होती है। स्वाभिमान और स्वाधिकार पर लगी अप्रत्याशित ठेस अनुभूतिशील व्यक्ति के हृदय में रह-रहकर कसकती है। उसकी टीस में ग्लानि का विष मिल जाने से भयावह परिणाम होता है। 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'। किन्तु उनकी सहिष्णुता अपार थी। मर्मभेदी पीड़ा को भी अपनी स्वाभाविक मुसकानों में छिपा लेने की कला उन्हें मालूम थी। सभी ही मुसकान के बाद उनका चेहरा विवर्ण हो

जाए, पर बातचीत के प्रसंग में उनका दिल-दर्द कभी नहीं झलकता था। मानस और मस्तिष्क के मन्थन से उन्हें सन्तोष का अमृत उपलब्ध हो गया था। कभी वह अपनी कसक किसी को ताड़ने देना नहीं चाहते थे।

उनकी वास्तविक महत्ता उनके जीवनकाल में परखी न जा सकी। प्राय महान् व्यक्तियों के प्रति ऐसी ही भूल हुआ करती है। उनसे जो काम लिया जाना चाहिए था वह लिया न जा सका। देश और समाज ने उन्हें वैसी सुविधा नहीं दी। किसी अप्रतिम मेधावी की मेधाशक्ति का उपयुक्त उपयोग न हो सकना देश और समाज का दुर्भाग्य है। उनकी ज्ञानगरिमा का यथोचित उपयोग साहित्य-निर्माण में होना आवश्यक था। मुझे जब कभी उनके सत्संग का सुअवसर मिलता था मैं बराबर उनसे अंग्रेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने का अनुरोध किया करता था। वह भी इसकी आवश्यकता का अनुभव करते रहे। किन्तु कभी तो मन-स्थिति ठीक न रही और कभी परिस्थिति प्रतिकूल हो गई। वह सोचते ही चले गए। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने भी उनसे यह बात कही थी। शर्माजी का भी मत था कि कम-से-कम बिहार में एकमात्र विद्यार्थीजी ही इस काम को सफलता से पूरा कर सकते हैं। मैंने 'साहित्य' में भी यह बात लिखी थी। परन्तु ईश्वर की ऐसी इच्छा और कृपा न हुई कि यह काम यथार्थ अधिकारी व्यक्ति के हाथों सम्पन्न होता। यदि कोई इसे अतिशयोक्ति न समझे तो यह निर्द्वन्द्व भाव से कहा जा सकता है कि हिन्दी-संसार में जो दो-चार विशिष्ट विद्वान् इस काम को अधिकारपूर्वक पूरा करने योग्य समझे जाते हैं उनमें विद्यार्थीजी का स्थान सर्वोपरि था।

जब मैं बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् की सेवा में था आरम्भ में वह भी उसके मान्य सदस्य थे। उन्हें अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के हिन्दी-अनुवाद का भार सौंपा गया था पर उनकी विद्वत्ता और साहित्य-सेवा की साध को अनवरत अस्वस्थता ने सफल न होने दिया। इसका विषाद उनके मन पर भी छाया रहता था। हमारे समाज में असाधारण प्रज्ञा के विद्वानों से साक्षात्कार द्वारा लाभ उठाने की प्रवृत्ति बहुत कम दीख पड़ती है। लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों और जन-सम्पर्क में रहनेवाले

पत्रकारों का भी ध्यान साहित्यिक मनीषियों की ओर विशेष उन्मुख नहीं है, जिसका नतीजा साहित्य के हित में बड़ा हानिकारक हो रहा है। विद्यार्थीजी अपने सम्वत-प्रवास के अनुभव सुनाते हुए कहते थे कि विदेशों के पत्रकार अपने मूर्धन्य साहित्यकारों के ज्ञानकोष का प्रसार जनता में विज्ञापित करने की कला खूब जानते हैं। किन्तु अब ये बातें निरर्थक और निस्सार हैं। विद्यार्थीजी की प्रतिभा के जो प्रसून हिन्दी का प्राप्त हो चुके हैं उन्हीं से उनका साहित्योद्यान चिरकाल तक सुरभित और सुशोभित रहेगा। उनके समान आदर्श मित्रवत्सल का सौहार्द ही अब उनके इष्टमित्रों के हृदय में सँजोया हुआ मूलधन है।[१]

---

१. लेखन १८ दिसम्बर १९६०।
प्रकाशन फरवरी १९६४—'भारती' (बी० एन० कॉलेज, पटना, की हिन्दी पत्रिका)।

मेरा जीवन

मेरे पूज्य पिता बहुत अच्छे रामायणी थे और प्रतिदिन दोनों बेला 'रामचरितमानस' का पाठ नियमित रूप से किया करते थे। 'मानस' के श्लोक और चौपाई-दोहे कण्ठस्थ करके सुनाने पर मुझे नित्य पैसे दिया करते। मेरे बचपन में उन्होंने यह अभ्यास कई साल तक कराया। उनकी प्रेरणा से यह अभ्यास उनके जीवन के अन्तिम दिनों (१९०९ ई०) तक चलता रहा। इसका प्रभाव मेरे समस्त जीवन पर बड़ा गहरा पड़ा। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र में श्रद्धाभक्ति रखने और उनके आदर्शों पर सदा ध्यान देने के लिए वह प्रोत्साहन दिया करते थे। मेरे आचरण पर पिताजी की सीख का बहुत अच्छा असर हुआ। मैं समझता हूँ कि राम कृपा से ही मैं प्रवेशिका-कक्षा से फ़ारसी-उर्दू की पढ़ाई छोड़कर एकाएक हिन्दी पढ़ने लगा जो मेरे स्कूल या नगर (आरा) की सबसे पहली घटना थी। स्कूल में शुरू से ही फ़ारसी-उर्दू पढ़ते रहने पर भी रामायण का संसर्ग कभी न छूटा और पिताजी के आदेशानुसार मैं नित्य 'मानस' पाठ भी करता रहा जो अब तक बराबर जारी है। साहित्य-सेवा की प्रेरणा का मूल स्रोत मेरी समझ में 'मानस' ही है, जिसके कारण छात्रावस्था (१९१ ई०) से ही मैं पटना की साप्ताहिक पत्रिका 'शिक्षा' में लेखादि लिखने लगा। मेरे स्कूल के हिन्दी शिक्षक पंडित चन्द्रहास द्विवेदी जो मेरे जिले के ही थे और संस्कृत-शिक्षक पंडित रामचरित्र उपाध्याय जो बलिया जिले (उत्तर प्रदेश) के थे मुझे उर्दू-कक्षा से हिन्दी-कक्षा में आने तथा मानसानुरागी छात्र होने के कारण विशेष प्रोत्साहन देने लगे। उक्त द्विवेदीजी ने 'हिन्दी-बोध' नामक एक पुस्तक लिखकर छपवाई, जिसे मैं अपनी साहित्य शिक्षा की पहली पाठ्य-पुस्तक

मानता हूँ। फिर उक्त उपाध्यायजी ने मुझसे संस्कृत की प्रथमा परीक्षा दिलवाई और मुझसे संस्कृत का 'सुभाषित-रत्न भांडागार' नामक ग्रन्थ (निर्णयसागर प्रेस बम्बई) मँगवाकर मुझे पढ़ाने तथा उसके सुबोध श्लोकों को कण्ठस्थ कराने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत और हिन्दी के प्रति अमिट अनुराग मेरे मन में जाग्रत होता गया। संयोगवश सुपरिचित हिन्दी-साहित्य-सेवी पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा मेरे स्कूल में हिन्दी के साहित्याध्यापक होकर आये जिन्होंने मेरे साहित्यानुराग को परखकर उसे और भी अधिक बढ़ावा दिया। वह मुझे आरा नगर की नागरी प्रचारिणी-सभा में प्रतिदिन संध्या-समय अपने साथ ले जाते और पत्र-पत्रिकाएँ सुनाकर पढ़ने तथा उनमें से आवश्यक बातें लिख लेने के लिए निर्देश करते थे। इस प्रकार वही मेरे साहित्यिक गुरु बन गए और जब तक जीते रहे, मेरा पथ-प्रदर्शन करते गए। अतः साहित्य-सेवा का व्यापार मेरी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन होने के अलावा मेरी हार्दिक प्रवृत्ति के कारण भी मेरे जीवन का चिरसंगी बन गया। यद्यपि हिन्दी लिखे-पढ़े बिना चल न पाने की मेरी स्वाभाविक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति हो गई अथवा प्रकृति ही वैसी बन गई, तथापि मैं यही मानता हूँ कि केवल जीविकोपार्जन के मुख्य साधन के रूप में ही मैंने साहित्य को अपनाया। योगक्षेम की कामना के साथ-साथ वह आत्मसंतोषमय प्रवृत्ति भी इस काम में निरन्तर उत्साह देती रही है।

साहित्य-समाराधन के कार्य में प्रवृत्त कराने वाले संयोग का सूत्रपात उसी समय हो चुका था जब मैं फ़ारसी उर्दू पढ़ने वाला छात्र था। उस संयोग का बीजरोपण तो तब हुआ जब मैं स्कूल में दाखिल होने से पहले उर्दू के मदरसे में पढ़ता था। मेरे बड़े बहनोई मुंशी कालिकाप्रसादजी हिन्दी के प्राचीन भक्ति-साहित्य और रीति-साहित्य के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। मकतब की पढ़ाई-लिखाई के अतिरिक्त जो अवकाश का समय मिलता था उसमें वह मुझसे नागराक्षर लिखवाते थे। मेरे अक्षर सुडौल होते थे इसलिए काशी-नरेश के छपाए 'महाभारत' के रोचक प्रसंगों की प्रतिलिपि वह मुझसे ही कराते थे। वे हस्तलेख यथावधि मेरे संग्रहालय में हैं। उन्होंने स्वयं भी महाभारतान्तर्गत 'भगवद्गीता' की पूरी प्रतिलिपि

तैयार की थी फिर अयोध्या-नरेश के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसकुसुमाकर' की भी प्रतिलिपि-कर डाली थी। इन दोनों ग्रन्थों की नकल करते समय मैं बालपन के कुतूहलवश उनसे विविध भाँति के प्रश्न करता जाता था और वह बड़े सरस ढंग से प्रसंग समझाते थे। इस रीति से भी उर्दू के पाठ्याभ्यास-काल से ही साहित्यिक दिशा में प्रवृत्ति बढ़ती गई। फिर स्कूल में पढ़ते समय जब मेरी पहली शादी हुई (१९०७ ई०) तब पेट में ब्याह होने के बाद मासमास में ही मेरी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। यद्यपि द्विरागमन नहीं हुआ था तथापि पत्नी से मेरा सामान्य परिचय करा दिया गया था। वह पढ़ी-लिखी थी इसलिए दो महीने तक चिट्ठी-पत्री भी होती रही। किन्तु उनके अकालमें मरने से चित्त पर ऐसी चोट पहुँची कि मैंने उसके सभी संचित प्रेम-पत्रों को जला डाला और जब प्रेम-पत्रों का वियोग भी खलने लगा तब उस देवी की दिवंगता आत्मा को लक्ष्य करके सुन्दर-से-सुन्दर सम्बोधनों के साथ प्रेम-पत्र लिख-लिखकर अपने व्याकुल हृदय के उद्गार बाहर निकालने लगा। यह क्रम एक वर्ष तक चला। खेद है कि अज्ञानजन्य मोहवश उन कल्पित प्रेम-पत्रों को भी नष्ट कर दिया। किन्तु उन्हीं प्रेम-पत्रों से लिखने की लत लग गई। यह एक ऐसा अद्भुत रोग है जिसकी दवा भी नहीं है।

आरम्भ में जो छोटे-मोटे लेख छपे थे वो वैसे ही लघु निबन्ध थे जैसे स्कूली छात्रों से कक्षाओं में लिखवाए जाते हैं। पर जब कहानियाँ लिखने का शौक हुआ तब पहले प्रेम की दुनिया में प्रवेश हुआ। पर मेरे उपर्युक्त साहित्यिक गुरु शर्माजी ने उन सभी कहानियों को अस्वीकृत ही नहीं किया उनका अस्तित्व भी नष्ट करा दिया। उनके निर्देशानुसार मैं लोक-समाज में ही कथावस्तु खोजने की ओर उन्मुख हो गया। मेरी कुल पन्द्रह मौलिक कहानियाँ हैं जिनमें ऐतिहासिक सत्य पर जो आधारित हैं उन्हें छोड़ सभी कहानियाँ आँखों-देखी कानों-सुनी सच्ची घटनाओं पर ही अवलम्बित हैं। अत्यन्त साधारण ग्रामीण व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आये और उनके द्वारा सुने हुए वृत्तान्तों से कहानी लिखने की प्रेरणा मिल गई। ऐसी प्रेरणा व्यक्तिगत अथवा निजी अनुभवों से भी मिली। मेरे गाँव का एक मामूली किसान जिसका नाम 'जगेसर' था और जो

बड़ा निष्ठावान शिव भक्त था। प्रायः ईश्वर भक्तों की कथाएँ सुनाया करता था। लड़कपन में उससे सुनी हुई सच्ची घटना पर मेरी 'हर भगवती' नामक कहानी लिखी गई।

जीवन में संघर्ष के अवसर तो बराबर बने रहे। किशोरावस्था में ही अभिभावकों की छत्रछाया सिर से उठ गई, गाँव के घर की देखीभाली की आकाशवृत्ति-तुल्य हो गई, जीविका की आधारशिला केवल लेखनी ही रह गई। हिन्दी के लेखकों और प्रकाशकों में कैसा सम्बन्ध रहता आया है सब-जाहिर है। 'अन्धी पीसे कुत्ता खाय' कहावत मुझ पर सटीक बैठती है। किन्तु अस्वस्थता से अभावग्रस्त रहने पर भी सन्तोष का पल्ला कभी न छूटा। मेरी रचनाओं में कोई ऐसी विशेषता भी न होती कि मैं पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक के निमित्त कभी आशा अथवा आग्रह करूँ। अपनी रचना को प्रकाशित और लोकलोचन के समक्ष उपस्थित देखकर ही आनन्द-अनुभूत रहा और चित्त-वृत्त की प्रसन्नता से जो कुछ निरन्तर लिखवाते हैं उससे तन-मन को सुख प्राप्त होता चला आ रहा है। यदि प्रकाशक-बन्धु मेरे प्रति थोड़ी भी सहानुभूति दिखावें तो संघर्ष की उग्रता कुछ कम हो जाती। किन्तु अपनी परम्परा प्राप्त स्वाभाविक आस्तिकता के कारण मैं यही समझकर संघर्ष झेलता आ रहा हूँ कि मैं प्रकाशकों का पुराना ऋण चुका रहा हूँ और यथालाभ-सन्तोष ही मन का मोद है। हिन्दी से ऐसी लगन ही लग गई कि संयम से मैं कभी च्युत नहीं और इसके लिए कभी किसी के साथ मन मैला न किया। घोर अर्थ-संकट में भी धीरज का कभी तिरस्कार करने का दुस्साहस न किया। ईश्वर ने इसका यही पुरस्कार दिया कि संकट आता भी तो बाढ़ की तरह ऊपर-ही-ऊपर निकल गया। ईश्वर-प्रार्थना का सहारा मनुष्य को कभी दीन अथवा पराश्रयापेक्षी नहीं होने देता। और संघर्ष तो जीवन-नन्दन का सौरभ फैलाने आता है, उसके बिना जीवन नीरस शिथिल हो जाता है। मैंने संघर्ष को सदा भगवत्प्रसाद ही समझा है। जीवन के संघर्षों का विवरण देना तो अपना ढोल पीटनेवाला राग-द्वेष का गुणगान बना करता है। यह विवरण तो मेरी दैनन्दिनी के पन्नों में ही कुछ पड़े सोते हैं। मुझे तो अपना अनन्य हिन्दी-प्रेम के लिए कठिनाइयों

से जूझते रहने की शक्ति ही परमात्मा से माँगने में सुख मिलता है। जब उसकी मर्जी के खिलाफ एक पत्ता तक नहीं हिलता तब संघर्ष को भी उसी की देन समझने में हानि ही क्या है! परमहंस श्री रामकृष्ण की यह अमरवाणी इसी सत्य का उद्घाटन करती है—"जो हानि हो सो प्रभु की इच्छा और जो लाभ हो सो प्रभु की कृपा।" इस अमोघ सन्तवाणी का ध्यान बना रहे तो जीवन-संग्राम में उस लोकोक्ति का चमत्कार स्पष्ट दीख पड़ता है—'मारत में मरतूक का भंडा फूटा टूटि नट्यो।' किन्तु संघर्षशील जीवन में इस दार्शनिक भावना को चरितार्थ करने के लिए भी कठोरतम मानसिक संयम करना पड़ता है और उसके लिए भगवत्कृपा की चिरन्तन अनुभूति से ही क्षमता प्राप्त होती है।

जीवन में आए-गए संकटों और कष्टों का लेखा-जोखा संकलित करना बड़ा कठिन काम है, परन्तु दो मुख्य प्रसंगों के संक्षिप्त उल्लेख से मेरी उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती दीख पड़ेगी। काशी प्रवास के समय (१९२७ ई०) ऊँची छत से गिरने के कारण मेरा दाहिना पैर टूट गया। पैसे पास नहीं थे। सेवक-सहायक का भी अभाव था। किन्तु ईश्वरेच्छानुसार इष्टमित्रों और शुभचिन्तकों ने अप्रत्याशित रूप से सब अभावों की पूर्ति कर दी। समझ में न आ सका कि महीनों तक सैकड़ों का खर्च कैसे निभा और किसने निभाया। उस अदृश्य सत्ता के सिवा किसी और का यह खेल नहीं था। दूसरी बार जब मैं बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (पटना) का संचालक था, यक्ष्मा से आक्रान्त हो गया (१९५१-५२ ई०)। यक्ष्मा-केन्द्र चिकित्सालय में महीनों रोगग्रस्त रहा। मेरे दोनों पुत्र कॉलेज के छात्र थे। आमदनी का कोई जरिया नहीं। सरकारी नौकरी के नियमानुसार केवल छह मास का वैतनिक अवकाश मिला। परिवार की असहायावस्था की चिन्ता अलग सताने लगी। किन्तु विपत्ति के घने बादलों में भी ईश्वर की कृपा की सुनहली किरणें अनायास फूट पड़ीं। उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री जगदीशचन्द्र माथुर, आई० सी० एस० बिहार सरकार के शिक्षा-सचिव और आचार्य बदरीनाथ वर्मा शिक्षा-मन्त्री थे। इन दोनों महानुभावों को भगवान् ने मेरी सहायता की प्रेरणा दी। देखते-देखते उक्त परिषद् से मेरी

सभी छोटी-बड़ी रचनाओं के प्रकाशन की व्यवस्था हो गई। बिहार सरकार ने इस काम के लिए पैंतीस हजार रुपये परिषद् को दिये और समस्त रचनाओं की अनुमित पृष्ठ-संख्या के आधार पर मुझे अग्रांश (रॉयल्टी) भी पेशगी मिल गया। सरकारी वैधानिक व्यूह को भेदकर यह सुविधा अनायास निकल आई। फिर भाग्यवादी राम की कृपा में से यह भलाई भी निकली कि मेरी अधिकांश रचनाएँ उक्त परिषद् से चार बड़े खण्डों में प्रकाशित हो गईं जिसका रायल्टी प्रतिवर्ष मिल रहा है। इस प्रकार विपत्ति में सम्पत्ति का आगमन सहसा भगवत्कृपा का ही आभास देता है।

मुझे सबसे अधिक सन्तोष जीवनभर में दो ही कामों से मिला। एक तो मेरे चिर-संचित पुस्तक-संग्रह की सुरक्षा के योग्य पक्का भवन बन गया और बिहार के साहित्यिक इतिहास के प्रकाशन की निश्चित व्यवस्था उक्त परिषद् से हो गई। पुस्तकालय बनवाने के लिए पैसे मेरे पास न थे और आशा भी न थी कि पक्का मकान कभी बन सकेगा। अचानक सरकारी आदेश मिला कि अहिन्दी-भाषी सरकारी अफसरों की हिन्दी-शिक्षा के लिए एक पाठ्य-पुस्तक बनाओ। मैंने प्रयत्न किया। वह सफल भी हुआ। एकमुश्त दो हजार रुपये मिल गए और गाँव के घर पर पुस्तकालय बनवा डाला। वह १९२१ ई० में श्रीरामनवमी को पिताजी के नाम पर स्थापित हुआ था और आज उसमें पुस्तकों तथा पत्र पत्रिकाओं की संख्या लगभग बीस हजार है। बिहार के साहित्यिक इतिहास के लिए सामग्री-संग्रह का काम १९१८ ई० में ही शुरू कर दिया था और संगृहीत सामग्री की रक्षा के निमित्त भी चिन्तित रहना पड़ता था। किन्तु जब मैं उक्त परिषद् की सेवा में आया तब अधिकारी-वर्ग से साहित्यिक इतिहास के प्रकाशनार्थ निवेदन किया और उपर्युक्त माथुर साहब ने यथोचित प्रबन्ध कर दिया जिसके फलस्वरूप वह काम नियमित रूप से चल रहा है। यद्यपि मैं परिषद् से अवसर ग्रहण करके सितम्बर, १९५९ में ही कार्यमुक्त हो गया तथापि अधिकारियों की इच्छा के अनुसार वह काम अब भी मेरी ही देख रेख में हो रहा है। इससे मुझे इतना अधिक सन्तोष है कि इस साहित्यिक यज्ञ की पूर्णाहुति देखने के

सिवा अब और कोई कामना नहीं है। सच मानिए तो अब अधिक कुछ करने की शक्ति ही नहीं है।

भाग्य के उतार चढ़ाव और गहरी-से-गहरी उदासी में भी मुझे एक-मात्र ईश्वर प्रार्थना से ही शान्ति मिली है। जीवनभर के अनुभवों का सार इतना ही है। हाँ सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय भी उद्विग्न मन को शान्त करने का एक उत्तम साधन अनुभूत हुआ है। आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारों और सन्त-समागम तथा साहित्यिक कार्य-सम्पादन से भी यदा-कदा उदासी मिटी है परन्तु ईश्वर-प्रार्थना के समान उसका स्थायी प्रभाव नहीं दीख पड़ा है। भाग्य-जन्य उत्थान-पतन में धीर प्रशान्त बने रहने का कोई दूसरा अचूक उपाय अब तक के जीवन में नहीं सूझ पड़ा है जो ईश्वर की भक्ति और प्रार्थना के समान अमोघ हो। ऐसा अनुमान होता रहता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने मिथ्या अहंकार के वशीभूत हो सुख-शान्तिमय जीवन-यापन के सुगम मार्ग—ईश्वर-प्रार्थना-पथ—से भटक गया है। श्रीमद्‌भागवत गीता में जो शाश्वत शान्ति का आश्वासन देने वाले भगवद्वाक्य हैं वे जीवन-यात्रा को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए अत्युत्तम सम्बल हैं। किन्तु श्रद्धा और विश्वास की शर्तें पूरी किये बिना वह सम्बल सुलभ नहीं। मेरा अटल विश्वास है कि भौतिक उन्नति के उत्तमोत्तम साधनों से भी मानव-जाति सच्चा सुख नहीं पा सकती। अन्त में इस वैज्ञानिक युग को भी अध्यात्म की चुनौती के सामने नतमस्तक होना पड़ेगा। तथास्तु।'[1]

---

१. मूल शीर्षक : 'अब तो बस एक ही कामना है'।
लेखन : २४ अक्तूबर १९६१।
प्रकाशन : जनवरी १९६२—मासिक 'नवनीत' बम्बई।

एक निजी संस्मरण

समग्र संसार के सभी प्रयत्नों और उद्योगों का लक्ष्य सुख प्राप्त करना है। सुख की चाह और खोज में सभी प्राणी दिन-रात व्यस्त रहते हैं। मनुष्य अपनी मनोवृत्ति प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार ही सुख का अनुभव करता है। प्रतिदिन के जीवन में सुख के अनुभव के क्षण प्रायः आते-जाते रहते हैं। किन्तु आनन्द के क्षण साधारण जन को प्रतिदिन नहीं सुलभ होते। वे केवल भगवद्भक्त को, ईश्वर के अनन्य उपासक को एकाग्र मन के ध्यानी को निस्पृह आत्मचिन्तक को और योगी को ही उपलब्ध होते हैं।

सुख और आनन्द में महान् अन्तर है। रमणी-विलासी केवल सुन्दरी समागम को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानता है। किन्तु ब्रह्मानन्द का कोई सहोदर है ही नहीं—होगा ही नहीं—हुआ भी नहीं। भोजन-विलासी केवल दिव्य आहार में ही अपने आनन्द की पूर्णता समझता है। परन्तु इन्द्रियों को सन्तुष्ट करनेवाले भोगों से आनन्द कभी उपलब्ध नहीं होता। इन्द्रियों के विषयों के उपभोग से सुख अवश्य प्राप्त होता है, जो अनिवार्यतः क्षणभंगुर होता है। आनन्द यदि सचमुच प्राप्त हो जाता है तो सदैव रोम-रोम में रमा रहता है। वह कभी क्षीण नहीं होता। उसकी मात्रा निरन्तर बढ़ती ही रहती है। वह अक्षय आनन्द एकमात्र योगी का भूषण है।

योगी केवल वन-पहाड़ में ही नहीं रहता। वह सांसारिक प्रपंचों के बीच गृहस्थी में भी रहता है। पर गृहस्थ योगी आज के विकृत समाज में भी कहीं दीख जाते हैं। वे जानते हैं कि दुःख की छाया का ही नाम सुख है। वे ही बतलाते हैं कि परमात्मा के साथ जीवात्मा का संयोग ही

'योग' कहलाता है और यही शाश्वत आनन्द का मुख्य स्रोत है। इसी आनन्द से मानवात्मा परितृप्त होती है। किसी प्रकार के सांसारिक सुख से मानव की आत्मा परितृप्त नहीं होती। पर सात्त्विक आनन्द से आत्मा की तृप्ति होती है। ऐसी तृप्त आत्मा भगवद्भक्ति में ही मग्न हो सकती है।

मेरा भी व्यक्तिगत अनुभव ऐसा ही है। सत्संग और स्वाध्याय से भी मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। किन्तु अहर्निश अनुभूति को आलिंगित किए रहनेवाले आनन्द से अभी तक वंचित ही हूँ। जीवन में अपने किसी विशेष कार्य से उस आनन्द का आभास मात्र-सा मिला है पर तन-मन में सतत व्याप्त रहनेवाला आनन्द अभी तक नसीब नहीं हुआ है। अपनी विशेष मनःस्थिति में परम तृप्ति की अनुभूति भी क्षणिक ही हुई है क्योंकि परम तृप्ति का रस रोमावली में जब तक नहीं छलकता तब तक वह अशेष आनन्द नहीं बरसाता। तन-मन-प्राण को पुलकित और विह्वल बनाए रखनेवाले आनन्द का जो उपमास्वरूप है, उसके पास तक पहुँचने का सौभाग्य मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ है।

यों तो मेरे रामभक्त रामायणी पिता मुझे बचपन से ही भगवन्नाम स्मरण की महिमा बतलाते और उसका अभ्यास सिखाते रहे पर जीवन के विकट संघर्ष ने उस अभ्यास को साधना का रूप नहीं लेने दिया। तब भी जिस विशेष कार्य से मैं आनन्द की छाया छूता रहा हूँ वह साहित्य समाराधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरी धारणा है कि मेरी अनुभूति में अभी वह तत्त्व-तल तक पहुँचने की गहरी पैठवाली अमोघ क्षमता नहीं आई है जो आनन्द के मूल उत्स तक अनायास ले जाती है। फिर भी जिस विशेष मनःस्थिति में परम तृप्ति के अनुभव की झलक मिलती है वह तुलसीकृत 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' की कथा एवं भावना में तल्लीनता का ही परिणाम है।

साहित्य-सेवा और साहित्यानुशीलन में जो सुख मिलता है, उस सुख का आनन्द की संज्ञा देने में हिचक इसलिए होती है कि परमात्मा के समक्ष आत्म-समर्पण करते समय जो आभ्यन्तरिक आह्लाद होता है, उसकी सम-कक्षता में वह सुख टिक नहीं पाता। उपर्युक्त 'मानस' और 'विनयपत्रिका'

का स्वाध्याय भी प्रकारान्तर से साहित्यानुशीलन ही कहा जा सकता है। मनोयोग के साथ श्रीमद्भगवद्गीता का पारायण भी एक प्रकार का साहित्यानुशीलन ही है पर इस साहित्यानुशीलन की विशेषता यह है कि इसमें मस्तिष्क और बुद्धि से अधिक एकाग्र चित्त-वृत्ति तथा अन्तस्तल की अनुभूति का ही योगदान रहता है। ऐसा स्वाभाविक योगदान केवल आध्यात्मिक साहित्य में तन्मय होने पर ही मिलता है।

निश्चय ही मेरा मन उस अविरल आनन्द की झाँकी मात्र देखने के लिए भी लालायित रहता है किन्तु अपनी विषम परिस्थितियों से विवश रहने के कारण वैसी साधना में तत्पर नहीं हो पाता जैसी साधना से उस प्रकाशमय आनन्द की किरण-रेखा इन आँखों में अन्धकारमय जीवन के लिए स्वर्ण-शलाका बन सकती है। इतने पर भी मेरा निजी अनुभव है कि साहित्य-साधना में मन के केन्द्रीकरण का जो अभ्यास बँध जाता है वह हरिकथा-कीर्तन और नाम-सुमिरन की साधना में एक प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है। साहित्यकार तो 'मानस' या 'विनयपत्रिका' या गीता' का पाठ करते समय अपनी भावुकता को भक्ति-भावना में निमग्न रखता है और अपनी सहृदयता को भाषा-भाव-गत काव्यात्मक सौन्दर्य में। इस तरह उसको दोहरा या डबल आनन्द मिलता चलता है।

सच पूछिए तो साहित्य ही मनुष्य के आनन्द का स्वाद बढ़ाता है। असाहित्यिक भक्त भी 'मानस' या 'विनयपत्रिका' में उतना आनन्द नहीं पा सकता जितना साहित्यिक भक्त पाता है। मैं भक्त होने का दावा नहीं कर सकता पर इतना जानता हूँ कि आनन्द की घनसंश्लिष्ट स्रोतस्विनी भगवद्भक्ति ही है। जब मनःस्थिति उसमें अचल हो जाती है, तब यही आकांक्षा होती है कि यह क्रम यदि अनन्त हो जाता तो मनोरथ-रथ अपने लक्ष्य की ओर अबाध गति से अग्रसर होता रहता या उस तक पहुँच ही जाता। किन्तु माया प्रपंच ऐसा होने नहीं देता। इसी विवशता के कारण मन को इतना ही सन्तोष रहता है कि साहित्याराधन से जितना आनन्द अनुभूत हो जाता है और भक्ति-साधना से जितनी तृप्ति मिल जाती है, उतने से ही जीवन की सार्थकता मान लेना चाहिए। इस प्रकार मुझे साहित्यिक कार्य में संलग्न और परमात्म-चिन्तन में अनुरक्त होने

तत्त्व', 'आरा-पुरातत्त्व' 'राजरानी' 'अपराजिता' (उपन्यास) 'शिवमानस कुसुमांजलि' (स्वरचित संस्कृत स्तोत्रों का संग्रह) 'तारकेश्वर यशोगान' 'बलप्रकाश' 'मेघेन्द्र किशोर' (जीवनी) 'वीरबालक निबन्धमाला' 'पेडकर साहब की जीवनी' 'भिन्न विलक्ष समुदाय' 'आत्मकथा' (साहित्य', पटना के दो अंकों में क्रमश: प्रकाशित)। पारितोषिक-प्राप्त प्रबन्ध 'हिन्दी-साहित्य कैसे पढ़ना चाहिए'।

विशेष : आरा नागरी प्रचारिणी-सभा के संस्थापक एवं मन्त्री (१९०१ ई०)। कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत कॉलेज में व्याख्याता प्राध्यापक (१९१४-१५ ई०)। हिन्दी प्रचारक तथा खड्गविलास प्रेस (पटना) के संस्थापक बाबू रामदीनसिंह द्वारा प्रकाशित 'शिक्षा' का २०-२५ वर्षों तक सम्पादन। बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन (छपरा १९२२ ई०) के सभापति। १९१२ ई० में सरकार द्वारा 'महामहोपाध्याय' उपाधि से विभूषित।

समकालीन साहित्यिक व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' शिवनन्दन सहाय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, रघुवीर नारायण, 'निराला'।

सम्पर्क 'शिक्षा'-सम्पादन-काल में एवं 'मतवाला-मण्डल' (कलकत्ता) में।

स्वर्गीय व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ'

जन्म १८७४ ई० (माघ शुक्लाष्टमी सं० १९३१ वि०)।

निधन २० सितम्बर, १९५६ ई० (भाद्रपूर्णिमा गुरुवार, सं० २०१३ वि०)।

मूल निवास-स्थान अख्तियारपुर (बड़ का गाँव), जिला शाहाबाद (बिहार)।

वंश-परम्परा पिता शिवनन्दन सहाय भारतेन्दु-युग के एक सम्मान्य लेखक (कृतियाँ 'गोस्वामी तुलसीदास' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' 'रामभक्त सन्त रूपकलाजी'), 'समस्यापूर्ति' पत्रिका के सम्पादक (देहान्त के बाद 'व्रजवल्लभ' जी द्वारा सम्पादित)।

शिक्षा-दीक्षा गया जिला स्कूल से इन्ट्रेंस। बी० एन० कॉलेज (पटना) से बी० ए०। पटना लॉ-कॉलेज से बी० एल०।

कृतित्व मौलिक उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' (मराठी और गुजराती में अनूदित) 'लाल चीन' (गुजराती में अनूदित) 'विस्मृत सम्राट्' और 'चित्रदर्शन'। 'मैथिल कोकिल विद्यापति' (आरा ना० प्र० सभा)। 'कलंक मार्जन' (नाटक), 'उद्धव' 'बूढ़ा वर' (प्रहसन)। लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकों के लेखक। 'साहित्य' (पटना) में प्रकाशित कुछ संस्मरण।

विशेष 'नागरी-हितैषिणी-पत्रिका' 'समस्यापूर्ति प्रकाश', 'शिक्षा' 'प्रेमाभक्ति-प्रचारक' आदि का सम्पादन। बिहार हिन्दी-साहित्य सम्मेलन चतुर्दश अधिवेशन (१९३५ ई० बेगूसराय मुंगेर) के सभापति। १९६०ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से सर्वप्रथम वयोवृद्ध साहित्यिक-सम्मान पुरस्कार से पुरस्कृत।

सम्पर्क। पंचम अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन लखनऊ में (१९१४ ई०)।

हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

जन्म १८७५ ई०।

निधन १९३९ ई०।

मूल निवास-स्थान, मलयपुर, जिला मुंगेर (बिहार)।

कृतित्व 'भारत की वर्तमान दशा', 'स्वदेशी आन्दोलन', 'वसन्त मालती' 'संसार-चक्र', 'तूफान' 'विचित्र विचरण' ('गुलिवर्स ट्रेवल्स' का हिन्दी-रूपान्तर), 'गद्यमाला' 'मधुर-मिलन' 'अनुप्रास अन्वेषण'।

विशेष सम्पादक सहकारी सम्पादक, 'हितवार्ता' (१९०२)। तत्कालीन पत्र 'भारत-मित्र' में व्यंग्य-विनोद भी लिखते रहे।

सभापति अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का बारहवाँ अधिवेशन (लाहौर, सं० १९७९), बिहार-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का प्रथम वार्षिकोत्सव। –

समकालीन साहित्यिक पं० सकलनारायण शर्मा बाबू श्यामसुन्दर दास,

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', महावीरप्रसाद द्विवेदी।

सम्मान विशेषतः 'मतवाला'-मण्डल में। अन्य अवसर—पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में हुए अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन (लखनऊ, १९१४) में बाबू श्यामसुन्दर दास के सभापतित्व में हुए अखिल-भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के छठे अधिवेशन (प्रयाग) में।

कलकत्ता प्रवास के संस्मरण

[कलकत्ता-प्रवास-काल १९२१-२९]

१९२१ 'मारवाड़ी-सुधार-समिति' (आरा बिहार) के तत्त्वावधान में आपके सम्पादकत्व में 'मारवाड़ी-सुधार' नामक सचित्र मासिक पत्र निकला इसी को छपवाने के सिलसिले में पहले-पहल कलकत्ता जाना पड़ा। यह पत्र दो वर्ष (जुलाई, १९२३ तक) चला।

१९२२ नवम्बर महीने से 'आदर्श' नामक मासिक पत्र का सम्पादन भी शुरू कर दिया था। यह पत्र पाँच-छः अंकों तक ही निकल सका।

१९२३ अगस्त महीने में हास्यरस-प्रधान 'मतवाला' (साप्ताहिक) के साथ 'मतवाला-मण्डल' की स्थापना हुई। इस मण्डल में आप १९२९ तक रहे। इस अवधि में आपने 'मौजी' 'गोलमाल' 'उपन्यास-तरंग' 'समन्वय' आदि पत्र-पत्रिकाओं का भी सम्पादन किया।

सम्पर्क जिन साहित्यिकों से हुआ उनमें ये नाम उल्लेखनीय हैं रामलाल वर्मा बाबू महादेवप्रसाद सेठ, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव बाबू जगन्नाथप्रसाद चौधरी पं० अमरेश्वर पाठक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी बाबू बलदेवप्रसाद खरे, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा पं० कार्तिकचरण मुखोपाध्याय, बैजनाथ केडिया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनी के कुछ नाटक-लेखकों से भी सम्पर्क हुआ पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' बाबू हरिकृष्ण 'जौहर' पं० तुलसीदत्त 'शैदा' आगा हश्र 'काश्मीरी' (इन लोगों ने कुछ हिन्दी रचनाएँ भी की थीं)।

स्वर्गीय आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

जन्म : १८८१ ई० ।

निधन : १९३४ ई० ।

मूल निवास-स्थान सिमेज जिला शाहाबाद (बिहार) ।

शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भिक शिक्षा डुमराँव-राज (शाहाबाद) की संस्कृत पाठशाला में; फिर क्वीन्स कॉलेज (काशी) में । महामहोपाध्याय पं० गंगाधर शास्त्री (पं० रामावतार शर्मा के गुरु काशी के एक मान्य पंडित) के शिष्य । दर्शनशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में विशेष अनुरक्ति । साहित्याचार्य षड्शास्त्री ।

कृतित्व मौलिक पुस्तकें 'चरित्रकथा' 'भरतचरित' 'विधवा के पत्र' 'समाज का कोढ़' 'भारत की सती नारियाँ' ।

हिन्दी-अनुवाद 'वाल्मीकि रामायण' (७ खण्डों में) 'महाभारत' (मासिक खण्डों में अपूर्ण) 'श्रीमद्भागवत' ।

विशेष लेख 'द्विवेदीजी की एकनिष्ठ साधना' (द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ) ।

विशेष सम्पादक 'शारदा' (संस्कृत मासिक) 'समाज' (हिन्दी मासिक), 'विजय' (हिन्दी साप्ताहिक जिसके पूर्व-सम्पादक पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा) ।

साहित्य-मन्त्री प्रयाग अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ।

सम्पर्क द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ छपने के समय प्रयाग में जब आप 'शारदा' के सम्पादक थे । फिर, पटना तथा कलकत्ता (मतवाला मण्डल) काशी आदि के प्रवास-काल में ।

स्वर्गीय कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय

जन्म : १८६७ ई० ।

निधन

मूल निवास-स्थान कालीबाड़ी छपरा (बिहार) ।

वंश-परम्परा अठारहवीं सदी में पूर्वज बंगाल से बिहार आये । पितृव्य भवानीचरण मुखोपाध्याय ने उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में

छपरा से पं० अम्बिकाचरण व्यास के सम्पादकत्व में 'शारन सरोज' नामक हिन्दी मासिक पत्रिका निकाली थी। पिता—कालीकिंकर मुखोपाध्याय।

कृतित्व मौलिक पुस्तकें 'मुसलमान कमाल पाशा' 'सती सुभद्रा' 'मणिपुर का इतिहास', 'सावित्री-सत्यवान' 'नल-दमयन्ती' 'सती पार्वती' 'सीतादेवी', 'शैव्या-हरिश्चन्द्र' 'सती शकुन्तला' 'देवी द्रौपदी' 'भ्रम-निरूप'।
अनुवाद बंगला से—'श्रीरामकृष्ण' शरत्चन्द्र के कुछ उपन्यास। अंग्रेजी से—'लन्दन-रहस्य' के कुछ खण्ड। बंगला और अंग्रेजी से अनुवादित विशेषतः जासूसी-रोमांच कथा-साहित्य। छद्मनाम से लिखी पुस्तकें 'विद्रोही राजा' (के० एम० भारद्वाज) 'कलकत्ता रहस्य' (गोकुलानन्द)। दूसरों के नाम से लिखी अनेक पुस्तकें।
फुटकर 'कुटीर-शिल्प कला' ग्रामभाषा की शैली पर भी एक छोटी-सी पुस्तक।

समकालीन साहित्यिक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि।

सम्पर्क विशेषतः कलकत्ता-प्रवास-काल में फिर छपरा के राजेन्द्र-कॉलेज में पढ़ने की अवधि में (लगभग १९४० से १९४१ तक)।

श्रद्धेय पंडित कृष्णबिहारी मिश्र

जन्म १८९० ई०।

निधन १९५६ ई०।

मूल निवास-स्थान गन्धौली जिला सीतापुर (उ० प्र०)।

वंश-परम्परा मिश्रबन्धुओं से कौटुम्बिक सम्बन्ध। पूर्वज—ब्रजभाषा के लब्धप्रतिष्ठ कवि। पितृव्य—युगलकिशोर मिश्र 'ब्रजराज' पिता—रसिकबिहारी मिश्र।

शिक्षा-दीक्षा एन्ट्रेंस गवर्नमेण्ट हाईस्कूल सीतापुर बी० ए० १९११ कैनिंग कॉलेज लखनऊ एल-एल० बी० प्रयाग। (तदुपरान्त १९१० से १९२४ तक वकालत)।

साहित्यिक जीवन छात्रावस्था से ही 'सम्राट' (कालाकाँकर से प्रकाशित) में लिखना प्रारम्भ। तदुपरान्त 'मर्यादा', 'इन्दु' 'अभ्युदय' आदि में कविताएँ और लेख।

कृतित्व मौलिक पुस्तकें 'चीन का इतिहास' 'देव और बिहारी'। सम्पादित ग्रन्थ 'गंगाभरण' 'नवरस तरंग' 'मतिराम ग्रन्थावली', 'नटनागर-विनोद' 'मोहन-विनोद'।

विशेष सम्पादक 'साहित्य-समालोचक' (१९२५-२८) 'माधुरी'। दैनिक 'आज' के सम्पादन-विभाग में भी कुछ काल तक।

सम्पर्क 'माधुरी' के सम्पादन-काल (१९२५-२९) में।

स्वर्गीय श्री रघुवीरनारायणजी

जन्म १८८४ ई०।

निधन १९५५ ई०।

मूल निवास-स्थान नया गाँव जिला सारन (बिहार)।

वंश-परम्परा पूर्वजों में कई विद्वान् साहित्यकार। पिता—जगदेवनारायण। आपके वंशज भी हिन्दी की सेवा में संलग्न।

शिक्षा-दीक्षा (बचपन से ही नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा-चरित' तथा पौराणिक कथाएँ सुनने से प्रवृत्ति धार्मिक)। प्रारम्भिक शिक्षा—पं० अम्बिकादत्त व्यास तथा पं० रामावतार शर्मा की देख रेख में।

कृतित्व अंग्रेजी ए-ब्राइड ब्लॉसम्स 'ए टेल ऑफ बिहार' 'सीता-हरन'। हिन्दी 'रघुवीर रस-गंगा' 'रघुवीर पत्र-पुष्प' 'बिराज बटरा' 'सारन जिले में प्राचीन बौद्धकाल के स्थल' (शोधपूर्ण निबन्ध)। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद पर एक संस्मरण। जीवन के अन्तिम दिनों में 'बिहार का आधुनिक इतिहास' तथा एक आत्मकथा लिख रहे थे (आपके देहान्त से ये ग्रन्थ अपूर्ण रह गए)।

विशेष सभापति बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन (मुजफ्फरपुर)। सम्मान १९५१ में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से वयोवृद्ध सम्मान पुरस्कार प्राप्त।

समकालीन साहित्यिक भारतेन्दु-युग के साहित्यसेवियों से घनिष्ठ

हिन्दी सभा' स्थापनाध्यक्ष बिहार प्रान्तीय-हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का पन्द्रहवाँ अधिवेशन (आरा) सम्मान पद्मभूषण।

आचार्य श्री नलिनविलोचन शर्मा

जन्म १९१६ ई०।
निधन १९६१ ई०।
मूल निवास-स्थान छपरा (बिहार)।
वंश-परम्परा पिता—महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा।
शिक्षा-दीक्षा एम० ए० (संस्कृत) १९३८ एम० ए० (हिन्दी) १९४२। संस्कृत में एम० ए० करके रिसर्च-स्कॉलर, पटना विश्वविद्यालय—विषय 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दण्ड विधान'।
कृतित्व मौलिक पुस्तक एवं ग्रन्थ 'दृष्टिकोण' 'विष के दाँत' 'नकेन के प्रपद्य' 'सत्रह कहानियाँ' 'मानदण्ड' 'साहित्य का इतिहास-दर्शन'।
सम्पादित ग्रन्थ 'लोक-कथा-कोश' 'लोक-साहित्य-आकर' 'लोक-गाथा-परिचय' 'प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण' 'सदल मिश्र ग्रन्थावली' 'सूर्य-चरित'।
सम्पर्क विशेषत: १९४९ से १९६१ तक (बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मासिक पत्र 'साहित्य' का सह-सम्पादन-काल)।

डॉक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी

जन्म १९१३ ई०।
निधन
मूल निवास-स्थान सुगौली जिला चम्पारण (बिहार)।
वंश-परम्परा पिता—भागवतप्रसाद।
शिक्षा-दीक्षा मैट्रिक—मोतिहारी जिला स्कूल, १९२९। बी० ए० ऑनर्स (अंग्रेजी)—जी० बी० बी० (वर्तमान लंगट सिंह) कॉलेज, मुजफ्फरपुर। एम० ए०—पटना विश्वविद्यालय, १९३७। पी-एच० डी०—लन्दन विश्वविद्यालय १९४९।

कृतित्व मौलिक पुस्तक : 'रजनी और तारे'।
अनुवाद 'कविकों'। पास्तरनाक की कुछ कविताओं के अनुवाद भी प्रकाशित किन्तु असंगृहीत। आइ० ए० रिचर्ड्स की 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' का अनुवाद बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अनुरोध पर कर रहे थे जो देहान्त से अपूर्ण रह गया।
सम्पादित ग्रन्थ 'निवेदिता' (सह-सम्पादक)।

विशेष बी० बी० सी० (लन्दन) में १९४७ से १९४९ तक आकाशवाणी (पटना) के वार्ताकार। सभापति चम्पारन जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन (१९३९)। सदस्य बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का संचालक-मण्डल कार्यकारिणी समिति (बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन) स्थायी समिति (बि० हि० सा० स०) के स्थायी सदस्य (अवधि बीस वर्ष)। ('पाटल' 'पुस्तकालय-सन्देश' 'ज्योत्स्ना' की परामर्शदात्री समितियों में)। 'माधुरी' 'सुधा' 'हंस' 'जागरण' 'विशाल भारत' 'बिजली' 'पारिजात', 'पाटल' 'अवन्तिका' 'आनन्द' आदि पत्रिकाओं में लगभग ३० वर्ष तक कविताएँ कहानियाँ वैयक्तिक तथा आलोचनात्मक निबन्ध समय-समय पर प्रकाशित।